

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 7 अंक 3

जनवरी-मार्च 2010

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. शिक्षा और समाज विजय बहादुर सिंह	7
2. अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी धर्मपाल	11
3. भारत और चीन : रिश्तों की उठा-पटक भाष्कर राय	24
4. संसार सागर के नायक अनुपम मिश्र	32
5. कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा शोभाकान्त झा	42
6. यथार्थ-चित्रण की नूतन अवधारणा और हिंदी उपन्यास पुष्पपाल सिंह	47
7. उत्तरपाड़ा भाषण, शिकवा और हिंद स्वराज : तीन ऐतिहासिक विचारों के सौ वर्ष शंकर शरण	55
8. हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	80
9. साम्यवादी सिद्धान्त और रामचन्द्र शुक्ल सदानन्द प्रसाद गुप्त	86
10. अंगिका के लोकगीतों की सामाजिक चेतना मृत्युंजय उपाध्याय	95

11. असम में लोकनाट्य का उद्भव और विकास अदिति सैकिया	104
पुस्तक-समीक्षा :	
12. उगने की उम्मीद में बोई गई कविताएँ रामस्वरूप दीक्षित	109
पाठकीय प्रतिक्रिया	111
पुस्तक प्राप्ति-स्वीकार	

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

संबंधों की उदात्तता

दो बातें जो हमारे आज के नागरिक समाज के विमर्श को लगातार सघनतापूर्वक प्रभावित कर रही हैं, वे हैं :

(क) बहु-आयामी मानवीय संबंधों में परिवर्तन; उदात्तीकृत व्यवस्था का लोप; तदनुसार संबंधों का लगातार रैखिकीकरण;

(ख) कर्तव्य-दृष्टि क्षीण होने से अधिकारों की सर्वोपरीयता।

एक तरह से ऊपर लिखी दोनों बातों का एक दूसरे से परस्पर घनिष्ठ संबंध है। मानवीय संबंधों की उदात्तता से कर्तव्य-बोध सबल होता है; अधिकारों की सर्वोपरीयता घटती है। संबंधों के रैखिकीकरण अधिकारों पर बल देता है। इन सबका संबंध हमारी मूल्य-पद्धति एवं तद्जन्य जीवन-दृष्टि से है। हमारी परम्परा कर्तव्य-बोध पर बल देती है। वस्तुतः जब हम धर्म की बात करते हैं तो वह कर्तव्य की ही बात होती है। यही कारण है कि कर्तव्य-बोध के सर्वोच्च स्तर पर फल या परिणाम की अपेक्षा न करते हुए कर्म करने की बात को मान्यता मिली है, जैसा कि गीता में कहा गया है।

भारतीय परम्परा धर्म के दायरे में विशद कर्तव्य-बोध कराती है, जिसमें आपद्धर्म विषयक शीमोल्लंघन भी सामिल है। दुख है कि वैसी स्थिति बनी नहीं रह सकी। पिछले शताब्दियों में हमारी सोच में बदलाव आया; हमारी जीवन-दृष्टि बदली; हमने विदेशियों की नजर से अपने आप को देखना शुरू किया। आत्म-नियंत्रित कर्तव्य-बोध चालित व्यवहार का स्थान अधिकार-प्राप्ति के संघर्ष ने ले लिया। रैखिक संबंध शोषक एवं शोषित, उत्पीड़क एवं उत्पीड़ित के आयाम में रेखांकित किए जाने लगे। इस प्राचल से मुक्त संबंधों की अवधारणा ने मानवीय संबंधों की विशदता, उसकी उदात्तता की दृष्टि को विलोपित कर दिया। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों में यह सोच, यह खण्डित-दृष्टि इतनी हावी रही कि भारतीय संविधान-निर्माताओं तक नेजिनमें प्रभावी वर्ग वकीलों का थामौलिक अधिकारों की बात तो की, किन्तु कर्तव्यों की नहीं। अंग्रेजी शासन काल में भारतीय उपनिवेश के स्थायित्व के लिए कुछ मिथक रचे गये, जैसे, भारतीय समाज की नस्लवादी व्याख्या, भारत में आर्य-अभियान, अंग्रेजी शोषण से ऊपजी गरीबी एवं अशिक्षा/निरक्षरता के लिए भारतीय समाज में आन्तरिक कारणों/कारकों की खोज, उनपर दोषारोपण; मुख्यधारा की परिकल्पना, मुख्यधारा एवं सीमान्त के बीच के सातत्य की नकार एवं उनके बीच संघर्ष के मिथक, आदि। 1875 के अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय संघर्ष के बाद भारतीय समाज-व्यवस्था, इतिहास, भाषा, धर्म, संस्कृति की गलत व्याख्या के प्रयत्न तेज हुए। उनके इस

दुष्प्रयत्न में समय-समय पर भारतीय धार्मिक जनसांख्यिकी पर आघात करनेवाले आध्यात्मिक/धार्मिक आक्रमणकारियों एवं बाद में, विशेषतः बीसवीं शदी के तीसरे दशक से, भारतीय कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों ने बढ़चढ़कर भाग लिया। आजादी के बाद इसमें अन्य कारकजैसे भारतीय राजनीति की विखण्डनकारी प्रवृत्तिआ जुटे। परिणाम सामने हैं। ब्रिटिश शासन काल की तुलना में आजादी के बाद हमारी बौद्धिक पराधीनता लगातार बढ़ती गयी। इसका सबसे बड़ा कारक हैं भारतमें कार्यरत विदेशी एवं देशी स्वार्थों का संकेन्द्रण, जिसमें भारतीय राजनीति एवं बौद्धिक वर्ग के स्वार्थ भी जुड़े हैं। भारतीय बौद्धिक वर्गों की आयातित विचारों पर निर्भरता से स्थिति और बिगड़ी है।

भारत में राजनीतिक एवं बौद्धिक वर्ग के स्वार्थों के संकेन्द्रण से बौद्धिक उलझन तो बढ़ी ही है, विभिन्न तरह के राष्ट्र-विरोधी, समाज-विरोधी तत्वों को सबलता भी प्राप्त हो रही है। आजादी के बाद हम अपने मनीषियों से कटे हैं। ऐसे समस्त लेखन को, जो उपनिवेशी मिथकों की काट करते हैंजैसे श्री अरविन्दों, राम स्वरूप, धर्मपाल लिखित लेख/पुस्तकेंबौद्धिक मुख्यधारा से निकाल बाहर किया गया है। इसका मिलाजुला दुष्परिणाम आज हमारे सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में लगातार दिख रहा है। हमारे मूल्य-पद्धति में गिरावट, भाषायी एवं सांस्कृतिक पहचान में आ रहा सतत् धुँधलापन, समाज में धनी-गरीब के बीच की बढ़ती खाई, सुविधा-भोगियों की लगातार बढ़ती संवेदनहीनता, हिंसक संगटनों/विचारधाराओं से बौद्धिकों/समाचार माध्यम कर्मियों/मानवाधिकार कर्मियों की सन्निकटता, राजनीतिक दलों द्वारा हिंसक संघटनों का मत-प्राप्ति के लिए उपयोग एवं उनको सहायता पहुँचाया जाना, आदि दुखद बाते हैं। इस देश में सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ने वाले सूरमाओं को सारे लाभ परिवार की परिधि में बटोरने से परहेज नहीं। सामाजिक न्याय के पुरोधों को यह बात खटकती नहीं कि संरक्षण/आरक्षण का लाभ जाति/वर्ग विशेष के समृद्ध लोग गटक जाते हैं। समस्या यथावत बनी रहती है। नारी सशक्तिकरण कीलड़ाई लड़ते समय यह भूला जा रहा है कि पिछले दरवाजे से घुसपैठ करके सशक्तिकरण संभव नहीं।

स्पष्टतः समस्याएँ गंभीर हैं। समाधान तभी होगा जब सशक्त बौद्धिक आन्दोलन चले जिसमें नागरिक समाज की सहभागिता हो।

बी.बी. कुमार

शिक्षा और समाज

विजय बहादुर सिंह*

मुद्दा तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किंतु क्या हम इतने स्वाधीन बचे हैं कि इस पर सोच पाने की सामर्थ्य और दक्षता दिखा सकें। असलियत तो यही है कि हमारा अवचेतन तक एक सांस्कृतिक उपनिवेश में तब्दील हो चुका है। हमारी स्मृतियाँ डेढ़-दो सौ साल पहले जाकर यह तो कहती हैं कि ब्रिटिशों ने हमारी जीवन-पद्धति में बदलाव खड़ा करने के लिए हमें पढ़ाई-लिखाई का एक नया ही ढाँचा दे दिया जिसके दो बड़े उद्देश्य थे। पहला, शिक्षित माने जाने वाले व्यक्ति का अपने ही समाज से अलगाव और विमुखता तथा दूसरा सत्ता के प्रति अंध समर्पण और स्वामिभक्ति। इसे अंग्रेजी में कहें तो लायल्टी। इस शिक्षा-व्यवस्था में जिसमें हम आजाद हो जाने के बाद भी पढ़-लिखकर तैयार हो रहे हैं वे दोनों दुर्गुण अपने चरम पर हैं। आजादी से पहले के प्रेमचन्द की 'मंत्र' और 'परीक्षा' शीर्षक कहानियाँ या फिर स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद उदय प्रकाश जैसे लेखकों की 'और अंत में प्रार्थना' से लेकर 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड़' और 'मोहनदास' तक इस बात की गवाही देने के लिए तैयार हैं कि यहाँ कथित तौर पर पढ़ा-लिखा आदमी किस भयावह सीमा तक समझौता परस्त, स्वार्थबद्ध, काइयाँ और लोक के प्रति गैर जिम्मेदार है। बल्कि लोकजीवन के लिए तो आज वह सबसे बड़ा खतरा ही बना हुआ है। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, चौकरशाह यहाँ तक न्यायाधीश और मान्य आचार्यगण तक एक जाति-समूह के रूप में समूचे लोक-समाज के प्रति प्रतिदिन अपनी संवेदन शून्यता और स्वार्थ केन्द्रीयता का प्रमाण देते ही रहते हैं। अगर हम इस पूरे समूह को एक बुद्धिकर्मी जाति-समूह मानते हुए बौद्धिक-वर्ग-समूह कहें तो इसके बुनियादी चरित्र के अध्ययन से जो नतीजे सामने आएँगे वे हमें कुछ अधिक ही दुःखी करेंगे। इसमें अपवाद स्वरूप एकाध ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, मोहनदास करमचंद गाँधी जैसे लोग भी हैं किंतु समूह में तो इनकी उपस्थिति बेहद गर्हित और शर्मनाक

* संपादक, वागर्थ; निदेशक, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता; विक्रमविद्यालय सलकिया, हवड़ा के हीरक जयन्ती के अवसर पर पठित आलेख, 2.1.2010

है। कहने की जरूरत भी नहीं कि यह भारत का नया शिक्षित वर्ग है। आजादी के बाद के जितने भी कदाचार और दुष्काण्ड हुए हैं, वे सब किसान और मजदूर कहे जाने वाले वर्गों के द्वारा नहीं, इसी के राक्षसी दिमाग और आचरण की देन हैं। इस सबको देखते हुए शिक्षा के चरित्र पर सोचने और बहस करने का काम मुझे तो पाखण्ड ही लगता है।

स्वाधीनता से पहले और बाद के भारतीय समाज के बारे में सोचें तो जबरदस्त फर्क दिखाई देता है। शिक्षा के क्षेत्र से ही उदाहरण लें तो औपनिवेशिक ढंग के शिक्षा-संस्थानों के समानांतर काशी विद्यापीठ और शांति निकेतन जैसी या फिर गुरुकुल आदि शिक्षा-संस्थाएँ खड़ी की जाती रहीं। पूछा जा सकता है कि इनके संस्थापकों को इनकी क्या जरूरत आ पड़ी? जवाब होगादेशी मानस को बचाए रखने की जिद। समझना चाहें तो दून स्कूल से निकले और बाद में मंत्री प्रधानमंत्री के पदों तक पहुँचे व्यक्तियों और काशी विद्यापीठ से सुसंस्कारित होकर आए प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री की समझ और सोच की तुलना की जा सकती है। एक किन्हीं परिस्थितिगत ऐतिहासिक दबावों में किसी कुलीन राजवंशी की तरह ऊपर से थोपा जाता है। किंतु दूसरा जन सामान्य के बीच से चलकर आता है और प्रधानमंत्री बनने से पहले भी लोक हृदय पर अपना आसन और शासन जमा लेता है। उसे प्रोजेक्ट करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। कारण सिर्फ यह कि वह नैतिक संघर्षों में विश्वास करता है और धोखा देने वाले समझौते नहीं करता। इस दृष्टि से अगर हम अपने वर्तमान प्रधानमंत्री को देखें तो उनकी राज्य सभा सदस्यता की योग्यता और नैतिकता पर कई सवाल उठाए जा चुके हैं और बहसें हो चुकी हैं। लोक और समाज की चुप्पी इस सन्दर्भ में देखते ही बनती है। समाज ने अपनी स्वतंत्र विचार-प्रक्रिया और आत्मनिर्माण का चरित्र तो भुला ही दिया है, अपना नैतिक प्रतिरोध दर्ज करना भी वह लगभग छोड़ चुका है। चार-पाँच साल बाद वह मतपेटी के मार्फत अगर अपनी नाखुशी और स्वीकृति-अस्वीकृत जाहिर भी करता है तो लगभग इस तरह से जैसे कि यह कोई स्थायी-सा इलाज हो। जिस समाज का सांस्कृतिक इतिहास इतना ज्यादा प्रतिप्रश्नवादी और उथल-पुथलकारी हो, धर्मों के इतने इतने क्रांतिकारी प्रवर्तन और नए-नए प्रस्थान हों, वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों के दुष्प्रयोग और दुर्व्याख्याओं के विरुद्ध औपनिषदिक चिन्तन और दर्शन हों, एक नई जाति के साथ गुल-मिल कर आपसी लेन-देन की सूक्ष्म प्रक्रिया और गहरी विरासत हो, अहिसंक भक्ति आन्दोलन हो, वह इतना आत्मविमुख और संघर्ष भीरु कैसे हो सकता है। सहसा विश्वास नहीं होता और अकल जवाब देने लग जाती है।

हम, कथित तौर पर पढ़े-लिखे, विद्या-व्यसनी लोग शायद यह समझने लगे हैं कि शिक्षा का काम कैरियर-निर्माण है और कैरियर का मतलब है आत्म की स्वाधीनता से मुक्ति। यानी कि एक ऐसी प्रायोजित चेतना के अधीन हो जाना जिससे स्वार्थ और

सफलता के काम सधते हैं। सफलता आज की शिक्षा का मूल तंत्र है। लेकिन सैकड़ों या हजारों की असफलता की कीमत पर एक या दो की सफलता का क्या मतलब होता है। इससे तो समाज नहीं बनता। एक सीमा के बाद वह बचता भी नहीं है। इसलिए रोज-रोज यह खबरें प्रकाशित करना कि इतने करोड़पति और पैदा हो गए उस समाज की सबसे हिंसक और अश्लील खबर है जिसमें किसानों का एक समूह लाचारीवश आत्महत्या करता हो। मरघट में विवाह की खुशियों का बाजा बजाना तब और किसे कहेंगे। यह सब अब आए दिन किया जा रहा है और कथित सुशिक्षित और भद्र समाज धीरे-धीरे इस स्थिति या ऐसी भयावहताओं के प्रति सहिष्णुता सीखने लगा है।

मानव चेतना का यह नृशंस-अनुकूलन इतना खतरनाक है कि अपने ही घर की द्रौपदियाँ दाँव पर लगाई जाकर निर्वस्त्र किए जाने के खतरों के बीच कातर होकर चीख रही होंगी और हम वहीं अपनी सफलताओं और स्वार्थों के चलते, चुप्पी धारण किए बैठे रहेंगे? इसे विवेक का बचना कहेंगे या फिर बुद्धि-विनाश? इस पर कौन सोचेगा? कवि मुक्तिबोध जब यह पीड़ा भरा सवाल हम सब के अँधेरे पड़े चेतना के कोनों में फेंकते हैं कि अरे बड़े-बड़े नाम कैसे शामिल हो गए इस जुलूस में तब भी कविता पढ़ने और पढ़ाने वालों को यह एहसास तक नहीं हो पाता कि उनके अपने घर-परिवार के लोगों की शिनाख्त यहाँ जाहिर की जा रही है।

समाज आज बुरी तरह टूट बिखर रहा है। जातियों और धर्मों की संकरी पहचानें तीव्र की जा रही हैं। स्वार्थों के रिश्ते प्रबल और सघन किए जा रहे हैं। ताकतवर शिक्षित समूह अपना एक अलग इन्टरनेटी दैवी लोक बना चुके हैं, बनाते जा रहे हैं। कमजोरों के रास्ते छीने जा चुके हैं। साँस लेने भर जितना उनके हिस्से का आकाश भी छोड़ा नहीं जा रहा है। भू जल स्रोतों का निर्मम दोहन हो रहा है। सभ्यता की नई गतिविधियों ने गाँवों को बेगाँव और सघन वनों को उजाड़ में तब्दील कर डालने का अभियान चला रखा है। वह छोटी-सी आबादी जो उद्योग, व्यापार, नौकरशाही और सत्ता में है, देश के अधिकांश संसाधन उसी के कब्जे में चले गए हैं। वहीं शासक है, वही भोक्ता भी है। वही दीनबन्धु की पाखण्ड-पूर्ण छवि लेकर करोड़ों-करोड़ सीधे-सादे लोगों को रोज-रोज छलता भी रहता है। उनकी भावनाओं और सपनों का निर्मम अपहरण करता है। यह वह राजनीतिक बलात्कार है जिसमें आदमी की जान तो नहीं जाती पर उसका अपना कुछ बचता भी नहीं है।

रामायण महाभारत जैसे हमारे जातीय काव्य ऐसे ही समयों में लिखे गए होंगे हमें यह बताने और चेताने के लिए कि तुम प्रतिरोध में खड़े हो जाओ और समस्त मानवता को अपने साथ आने का आवाहन करो।

यदा-यदा हि धर्मस्य.... कहने वाले ने तो मूल बात यही कही है कि मानव-धर्म जब संकटग्रस्त हो तब दुष्टों के दलन और विनाश के लिए सामूहिक एकता और संघर्ष

इस देश का बुनियादी चरित्र रहा है। भक्ति आन्दोलन के दिनों में तो हम इसे देख ही चुके हैं 1857 से 1947 तक भी हम यह अनुभव कर चुके हैं। समाज मुनाफाखोरों और नरभक्षी सभ्यताओं से नहीं बनता। वह तो उस अन्याय-विरोधी और न्याय की आकांक्षाओं वाले समूहों से बनता है जिनमें केवल मनुष्य ही नहीं, सृष्टि के अन्य जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़-जंगल भी आते हैं। जो शिक्षा आत्मरक्षा के साथ-साथ इन सबकी रक्षा का धर्म निर्वाह नहीं करती वह कुशिक्षा ही कही जाएगी। ऐसी शिक्षा कैसे अपने चरित्र में सामाजिक कही जाएगी, इस पर तो सोचना भी अपराध होगा।

शिक्षा का मतलब अगर विद्या-सम्राट बनकर दुनिया को अपनी अर्जित ताकतों से तबाह करना है तो पुराने युगों के रावण आदि या फिर आधुनिक पूँजीवादी अमरीका आदि सबसे ज्यादा शिक्षित माने और कहे जा सकते हैं। भारत के लोग इसे शायद ही कभी मानें। वे तो उन्हीं लोगों को सबसे अधिक सुशिक्षित और सुसंस्कृत मानते आए हैं जो लोगों के दुःखों के साथ खड़े होकर उनसे निवृत्त होने का उपाय ढूँढ़ते रहे हैं, अन्याय-पीड़ितों के साथ खड़े होकर उन्हें न्याय दिलवाने की अगुवाई करते रहे हैं। वर्तमान शिक्षा और शिक्षित जन अगर यह फर्ज नहीं निभा पा रहे हैं तो यह शर्मनाक और दुर्भाग्यपूर्ण है। शिक्षा की व्यर्थता है। सार्थकता तो किसी भी अर्थ में नहीं।

अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी*

धर्मपाल

अपने अध्ययन के लिए मैंने 18वीं और 19वीं शताब्दी को ही क्यों चुना, इसका भी कारण है। मैं 18वीं शताब्दी के मध्य बिन्दु को भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। अगर हमारे पास 1700 के आसपास के रिकार्ड होते तो मैं उन्हें निश्चय ही 1750 के बाद के रिकार्ड से ज्यादा पसन्द करता। क्योंकि अगर वे बाद के इन ब्रिटिश रिकार्डों की जितनी तफसील देते तो इनके मुकाबले वे भारतीय जीवन की ज्यादा सच्ची तस्वीर पेश करते। मद्रास में और दूसरे अभिलेखागारों में सूरत और बंगाल जैसे इलाकों से सम्बन्धित ऐसी कुछ सामग्री जरूर है जो 1750 से पहले के बारे में बताती है। 1660 के मद्रास के रिकार्ड बताते हैं कि अंग्रेजों को दक्षिणवर्गीय और वामवर्गीय जातीय समूहों से कितनी दिक्कत हुई थी और उन्होंने मद्रास के अंग्रेज अधिकारियों का कितना विरोध किया था।

ऐसे भी रिकार्ड हैं जो बताते हैं कि 1750 से पहले के समय में मद्रास में फौज को और पुलिस को कृषि उपज का एक निश्चित अंश मिलता था और इसके बदले यह उनका कर्तव्य था कि वे स्थानीय गड़बड़ी की घटनाओं और चोरी आदि के समय उनकी रक्षा करें। अगर पुलिस चोरी गए सामान को हासिल करके लौटाने में नाकामयाब होती थी तो उसे चोरी गए सामान के बराबर भरपाई करनी पड़ती थी। लेकिन 1750 से पहले के ब्रिटिश रिकार्ड उस समय के सामाजिक और राजनैतिक ढाँचे के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं देते। अलबत्ता 1620 के आसपास के हेनरी लार्ड के लिखे सूरत के बनियों और पारसियों से सम्बन्धित कुछ ब्यौरे जरूर हैं या फिर पीटर डेला वेला के 17 वीं शताब्दी के मध्य के ब्यौरे हैं जो दूसरी चीजों के साथ कर्नाटक के एक स्कूल और उसमें चलने वाली पढ़ाई के बारे में जानकारी देते हैं।

1750 के बाद के अंग्रेजी रिकार्ड अपने इलाके पर अंग्रेजी प्रभुत्व से एक दो दशक पहले के समाज की तरफ इशारा जरूर करते हैं। इस ब्यौरे में जानकारी के

*धर्मपाल जी की पुस्तक *अंग्रेजों से पहले का भारत से साभार*।

स्वरूप विस्तार और गुण के ख्याल से भिन्नताएँ होना स्वाभाविक है, और वह इस पर निर्भर करता है कि ये रिकार्ड किस इलाके के हैं और उन्हें किसने तैयार किया। लेकिन भारतीय समाज के इस दौर को समझने के लिए किस तरह उसे नष्ट किया गया, किस तरह के विचारों और ढाँचे के जरिए उसे दूसरी शक्ति में ढालने की कोशिश की गई, इस पर ज्यादा उपयोगी सामग्री ब्रिटेन के अभिलेखागारों में मिलती है; क्योंकि नीतियाँ और यहाँ के लिए नया ढाँचा ब्रिटेन में ही बनाया गया था। राजनैतिक, शैक्षिक और व्यापारिक स्तर पर जिस तरह के सोच-विचार ने इन नीतियों को और इस पूरी रणनीति को पैदा किया वह ब्रिटेन के ही आंतरिक दस्तावेजों में मिल सकती है। मद्रास, कलकत्ता, बंबई, लखनऊ और दिल्ली के अभिलेखागारों में तो वे अंतिम निर्देश ही मिल सकते हैं जो अमल में लाने के लिए यहाँ के अंग्रेज अधिकारियों के पास पहुँचे। बहरहाल, आज जिन्हें हम भारतीय अभिलेखागार कहते हैं उनमें ले देकर अंग्रेजी रिकार्ड ही हैं या बहुत मामूली संख्या में वे दस्तावेज हैं जिन्हें अंग्रेजों ने पुराने भारतीय स्रोतों से इकट्ठा किया था या उनकी नकल करवाई थी।

अंग्रेजों से पहले के भारतीय समाज को समझने के लिए मुझे 1740 से 1830 के बीच के ब्रिटेन के अंदरूनी दस्तावेज ज्यादा उपयोगी दिखाई देते हैं। यह बात सही है और मैकाले ने भी कहा है कि 1830 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी वैसी ही थी जैसी वह 1600 में बनते समय थी। शुरु से ही ब्रिटिश सरकार ने उसे शाही फरमान के जरिए एक संप्रभु संस्था की तरह दूसरे इलाकों को विजित करके उन पर हुकूमत चलाने के पूरे अधिकार दे रखे थे। इंग्लैण्ड में और पश्चिमी यूरोप के दूसरे देशों में दूसरी अनेक कंपनियों को भी 1480 के बाद से इसी तरह के अधिकार दिए जाते रहे थे। 1480 के आसपास इंग्लैण्ड के हेनरी सप्तम् ने जान केबाट और उसके बेटे को शाही झंडे के नीचे, किसी भी किले, शहर या द्वीप या मुख्य भूमि जहाँ भी सम्भव है, पर कब्जा करने या उसे बनाने के अधिकार दिए थे। यह इलाका पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी समुद्र में चाहे कहीं भी हो अगर वहाँ रहने वाले लोग अधार्मिक और जंगली हैं और अब तक ईसाई धर्म से वंचित हैं तो राजा ने उन्हें विजित करने, उन पर कब्जा करने और राज्य करने के अधिकार दे दिए थे। एक ही शर्त थी यहाँ की होने वाली आमदनी का पाँचवाँ हिस्सा वे राजा के खजाने में जमा कर देंगे।

यूरोप के दुनिया भर में हुए विस्तार को समझने के लिए यह याद रखना जरूरी है कि ये सब कंपनियाँ यूरोप के विभिन्न राज्यों की औजार थीं। उन मौकों पर भी जब उन राज्यों और कंपनियों के बीच कोई झगड़ा पैदा हो जाता था वे राज्य द्वारा सैनिक और राजनैतिक संरक्षण पाए रहती थीं। और जब किसी कंपनी खासतौर पर ब्रिटिश कंपनी ने दूसरे इलाकों में जाकर विजय करना और राज्य करना शुरू किया तो इस विजित इलाके का वास्तविक नियंत्रण ब्रिटिश राज्य के हाथों में जा पहुँचा। औपचारिक तौर पर कुछ उदाहरणों में शासन चाहे कंपनी के हाथ में ही रहा हो जैसा कि भारत

के मामले में 1858 तक रहा, लेकिन फैसले लेने और राजनैतिक तथा सैनिक नियंत्रण में ब्रिटिश राज्य की ही निर्णायक भूमिका रहती थी और कंपनियों को जो भी निर्देश भेजे जाते थे ब्रिटिश हुकूमत उनकी अनिवार्य तौर पर जाँच करती थी, उन्हें सुधारती थी और मंजूरी देती थी। भारत के मामले में 1784 के बाद इसे कानूनी तौर पर अनिवार्य बना दिया गया था। लेकिन 1750 से ही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के बारे में कोई बड़ा निर्णय ब्रिटिश हुकूमत से पूछे बिना नहीं ले सकती थी। उदाहरण के लिए 1750 में मराठा सेनापति आंग्रे पर किया गया अंग्रेजी आक्रमण ब्रिटिश सरकार की नीति का और उसके निर्देशों का परिणाम था। इसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को कोई पहल नहीं करनी थी।

आमतौर पर ऐसा मान लिया गया है और इसमें पश्चिम के उदारवादियों की काफी भूमिका रही है कि पश्चिमी देशों ने खासतौर पर अंग्रेजों ने दुनिया भर में तो बर्बरता दिखाई मगर अपने यहाँ उन्होंने लोकतांत्रिक और उदारवादी रुख अपनाया था। यह मान्यता सच्चाई से कोसों दूर है। भारत में अंग्रेजों ने जो किया, वह इंग्लैण्ड में 11वीं शताब्दी में हुई नार्मन विजय के बाद से जो कुछ किया गया और जो 1800 के बाद तक जारी रहा, उससे बहुत भिन्न नहीं था। 16 वीं शताब्दी के बाद यही व्यवहार उन्होंने आयरलैण्ड में किया था और इसी को 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका में दोहराया गया। ब्रिटिश सत्ता के उत्तराधिकारी अमेरिकियों ने 18वीं, 19वीं शताब्दी में अपने तेजी से फैले साम्राज्य में भी यही किया। भारत में फिर उनके द्वारा किए गया विनाश, दमन और उनकी पैदा की हुई अव्यवस्था इन इलाकों के मुकाबले हल्की लगती है। इसकी वजह चाहे देश का बहुत विशाल होना रहा हो, जनसंख्या की सघनता रही हो या यूरोपीय लोगों के प्रतिकूल साबित होने वाली यहाँ की जलवायु रही हो।

ब्रिटेन में 1818 तक करीब दो सौ छोटे-बड़े अपराधों के लिए, जिनमें पाँच शिलिंग से ऊपर की चोरी भी शामिल है, मृत्युदंड देना कानून सम्मत था। इसी तरह 1830 तक किसी गम्भीर समझे गए अपराध के लिए किसी अंग्रेज सैनिक को खास तरह के कोड़ों से चार-पाँच सौ कोड़े लगाना आम बात थी। भारत में अंग्रेजों द्वारा मृत्युदंड देने, कोड़े लगाने या दूसरी सजाएँ दिए जाने की संख्या बड़ी हो सकती है, लेकिन कड़ाई के मामले में भारत में दी गई सजाएँ उन्नीस ही साबित होंगी। शायद 20-25 कोड़े, या कोड़े मारे जाने के विचार ही ज्यादातर भारतीयों को मरा जैसा महसूस करने के लिए काफी था, जिन्हें अंग्रेजी तौर-तरीकों, आदतों और निर्ममतापूर्वक दी जाने वाली सजाओं की आदत नहीं थी। बहरहाल भारत में कब्जा करके बैठे अंग्रेजों या यूरोपियनों के लिए, जिन लोगों पर वे राज कर रहे थे, उन्हें व्यक्तिगत रूप से सजा देना या रास्ते पर लाने की कोशिश करना सम्भव नहीं था। हालाँकि घरेलू नौकरों को अपने अंग्रेज मालिकों या उनकी पत्नियों द्वारा बेंत से इस तरह पीटे जाने की घटनाएँ

हुई हैं जिसमें उनकी मौत तक हो गई है। इसी तरह अंग्रेज कलेक्टरों ने गाँवों के मुखियाओं और दूसरे भारतीय अफसरों को इतने कोड़े फटकारे हों कि वह स्वर्ग सिधार गया हो, ऐसा भी हुआ है।

यह स्वाभाविक ही था कि शुरु में अंग्रेज अफसर अपनी निजी हैसियत में या सरकारी हैसियत से न्याय और व्यवस्था के अंग्रेजी कायदे-कानूनों पर चलते दिखाई देते, जिनके जरिए अपराधी समझे जाने वाले लोगों को खड़े-खड़े सजा दे दी जाती थी। लेकिन भारत जैसे बड़े देश में इस तरह के कायदे-कानूनों पर अमल करवाना बहुत मुश्किल था। इसलिए ऐसे ज्यादा नफीस राजनैतिक, आर्थिक और कानूनी तरीके निकाले गए जिनसे यही उद्देश्य साधा जा सकता था और ज्यादा बड़े पैमाने पर तथा ज्यादा कारगर तरीके से सजा देते हुए नियंत्रण रखा जा सकता था। राजस्व की वसूली के लिए आधी या एक तिहाई स्थानीय आबादी को कोड़े लगाए जाने लगे। शुरु में इनका उद्देश्य इतने बड़े पैमाने पर देश के मनोबल को भीतर से तोड़ना नहीं रहा होगा। लेकिन धीरे-धीरे ये तरीके कारगर दिखाई दिए और 1750 के बाद अगले डेढ़ सौ साल तक देश के एक या दूसरे हिस्से में राजस्व का काफी बड़ा हिस्सा हड़पने के लिए इन तरीकों का इस्तेमाल किया गया। कई इलाकों में तो इस तरह की विपत्ति हर दशक में टूट पड़ती थी।

अंग्रेजी राज के बारे में ये बातें कुछ लोगों को बहुत कड़ी और बढ़ा-चढ़ा कर बताई गई लग सकती हैं। दो ब्रिटिश दस्तावेज, जिनमें से पहला 1600 में आयरलैंड को कैसे पूरी तरह झुकाकर अंग्रेजी अधीनता में लाया जा सकता है और दूसरा 1800 के आसपास दक्षिणी भारत को किस तरह झुकाया और अंग्रेजी अधीनता में डाला जा सकता है, इसका ब्यौरा देने वाले हैं। एक अंग्रेज महाधिवक्ता सर जॉन डेविस ने आयरलैंड के लिए एक प्रभावकारी नीति सुझाते हुए कहा था

“आयरलैंड की पूर्ण विजय में दो कमियाँ दिखाई देती हैं। पहली है, उनका नरमी से किया गया दमन और दूसरी है, ढीला नागरिक शासन। जिस तरह किसान को जमीन का अच्छा बीज डालने लायक बनाने के लिए उसे अच्छी तरह तोड़ना और गोड़ना पड़ता है और फिर उसमें खाद डालनी पड़ती है। उसके बाद फौरन उसमें अच्छे बीज डालने पड़ते हैं वरना उसमें जंगली वनस्पतियाँ उग आएँगी। इसी तरह एक बर्बर देश को पहले युद्ध और दमन के जरिए बुरी तरह से तोड़ देना पड़ता है और तभी वह अच्छी सरकार के लायक होता है। मगर जब वह विजित होकर पूरी तरह नियंत्रण में आ जाए और उसे अच्छी सरकार न मिले तो वह फिर अपनी पुरानी और बर्बर अवस्था में लौट सकता है।”

दूसरा दस्तावेज भारतीय मामलों के बोर्ड आफ कमिश्नर्स के अध्यक्ष हेनरी डंडास ने ग्यारह फरवरी 1801 को मद्रास प्रेसीडेंसी की सरकार को भेजा था जिसमें उन्हें स्थायी बंदोबस्त के विरुद्ध सलाह दी गई थी

“कर्नाटक के कई प्रांतों में बंगाल से, जहाँ सबसे पहले स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया था, गुणात्मक फर्क है। बंगाल के प्रांत सरकार की आधीनता मानने और उसके निर्देशों के अनुसार आचरण करने के लिए अपने आपको तैयार कर चुके थे जबकि कर्नाटक के प्रांतों में ऐसा नहीं है। वे इन फायदों और सुविधाओं को पाने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं। यहाँ कोई लोकप्रिय व्यवस्था लागू करना निरर्थक और उलटे नतीजे देने वाला होगा, जब तक कि वे मानसिक रूप से मिलने वाले फायदों का महत्व समझने लायक न हो जाएँ। ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब कि उत्तरी सरकार इलाकों में दिखाई देने वाले विद्रोह और अवज्ञा की भावना को पूरी तरह दबा न दिया जाए। इन इलाकों का इस तरह दमन किया जाना चाहिए कि वे इस सिद्धान्त के अनुकूल हो जाएँ। इन्हें हमसे जो भी सुविधाएँ और ज्ञान मिल रहा है उसके लिए ऋणी महसूस करने लगना चाहिए और इसी तरह हम जो संरक्षण उन्हें दे रहे हैं इसके लिए उन्हें ऋणी महसूस करते दिखाई देना चाहिए। हम इन सिद्धान्तों को अनिवार्य समझते हैं।”

संयोग से इन हैनरी डंडास की कोई छह से आठ पीढ़ियाँ भारत में ब्रिटिश हुकूमत से काफी निकट रूप से जुड़ी रहीं, जब तक कि वे 1947 में यहाँ से कूच नहीं कर गए। इसी तरह के ऐसे कई हजार अंग्रेज परिवार रहे होंगे जो भारत में 1780 से 1947 तक चले अंग्रेजी राज में काफी ऊँचे स्तर पर उससे जुड़े रहे होंगे।

धरती से शिखर तक था हमारा ढाँचा

अपनी इस लम्बी और बेतरतीब भूमिका को समाप्त करने से पहले मैं भारतीय राज्य व्यवस्था में शिखर के लोगों की जीवन शैली के कुछ ब्यौरे देना चाहूँगा। मुगलों के दरबारी इतिहास या यूरोप के प्रसिद्ध यात्रियों के वर्णनों में इन लोगों की जीवन शैली चाहे जितनी वैभवपूर्ण और तड़क-भड़क वाली दिखती हो, अंग्रेजी रिकॉर्डों से उनकी छवि काफी मितव्ययिता और सादगी वाली निकलती है। यहाँ तक कि मुस्लिम शासन वाले हैदराबाद में भी 1780 में एक सजग अंग्रेज अफसर को राज्य के ऊँचे अधिकारियों और सामान्य नौकरों को पहली नजर में अलग-अलग पहचान लेना मुश्किल दिखाई दिया था। उसने बताया है कि उन दोनों को अलग करने वाली एकमात्र विशेषता यह थी कि नौकरों के कपड़े कुछ कम उजले दिखाई देते थे। ऐसी बात नहीं है कि उसने यहाँ की सादगी से प्रभावित होकर यह बात लिखी हो। वह तो शायद दोनों के बीच के इस घालमेल से काफी जुगुप्सा से भर गया था।

शुरु के एक प्रभावशाली गवर्नर जनरल के अनुसार हिंदू राजा अपने ऊपर बहुत कम खर्च करते थे। और उसने जो कहा है 1800 के दस-बीस साल बाद तक दूसरे लोगों से भी उसकी पुष्टि होती है। लेकिन उसके अनुसार इन राजाओं में दो बहुत बड़ी

बुराइयाँ थीं और वे ये कि राजा अपना काफी ध्यान ब्राह्मणों और मंदिरों पर देते थे। हो सकता है कि उस जमाने में ब्राह्मण और मंदिर का ज्यादा बड़ा अर्थ हो और इनसे सभी तरह की विधाओं में लगे सभी लोगों, और सिर्फ धार्मिक ही नहीं, बल्कि विद्या, संस्कृति और कला दूसरी रंजक गतिविधियों में लगी सभी संस्थाओं का आशय लिया जाता हो। उदाहरण के लिए भारत के चेचक के टीके लगाए जाने के ब्यौरे में बताया गया है कि यह काम ब्राह्मण किया करते थे। दरअसल जो भी आदमी किसी तरह का बौद्धिक, चिकित्सकीय या कुशलता वाला काम करता है उसे उस समय के काफी जानकार यूरोपीय भी ब्राह्मण ही समझते थे।

इन रिकार्डों से लगता है कि हिमालय के दूरस्थ इलाकों में स्थित केदारनाथ से लेकर तमिलनाडु में तंजावुर या रामेश्वरम जैसे इलाकों तक में तीर्थ यात्रियों को ठहरने और दूसरी तरह की सुविधाएँ देने के लिए क्षत्रम् की व्यवस्था थी। इन क्षत्रम् के खर्च के लिए कुछ राजस्व क्षेत्र निर्धारित कर दिए जाते थे। जिनमें बंदरगाहों तक के राजस्व स्रोत शामिल थे। केदारनाथ के क्षत्रम् के बारे में तो यह भी व्यवस्था थी कि उसके खर्च से जो राशि बचकर इकट्ठी होती रहे उसे बारह साल बाद होने वाले पूर्ण कुंभ के समय पूरी तरह खर्च कर दिया जाए और इस तरह रिक्त हुए कोष से फिर शुरुआत की जाए। इसे सुनकर हर्षवर्धन के जमाने के ऐसे ही रिवाजों का, जिनका काफी उल्लेख मिलता है, याद आना स्वाभाविक है। शायद आगे कभी इन रिवाजों के बारे में अधिक जानकारी मिले।

गाँव के स्तर पर भारतीय समाज किस तरह चल रहा था, इसकी काफी स्पष्ट जानकारी 18वीं शती के उत्तरार्द्ध के दस्तावेजों में मिलती है। चिंगलपेट जिले के 1770 के दस्तावेज शायद इसकी सबसे अच्छी जानकारी दे सकते हैं। एक दूसरी तरह से बंगला के 1800 से पहले के रिकार्ड भी लगभग इसी तरह की कहानी कहते हैं। चिंगलपेट जिले में 1760 से 1770 के बीच कोई दो हजार गाँवों का एक सर्वेक्षण किया गया था। इस सर्वेक्षण में गाँवों के स्वामित्व की कुल जमीन, विभिन्न उद्देश्यों के लिए उसका उपयोग, निवल खेती वाली सिंचित और असिंचित जमीन, गाँवों की विभिन्न संस्थाओं का खर्च निवाहने के लिए छोड़ी गई मान्यम भूमि आदि से सम्बन्धित अनेक तरह के आँकड़े इकट्ठे किए गए थे। इस मान्यम भूमि का राजस्व एक निर्धारित राजनैतिक संस्था को सौंप दिया जाता था चाहे वह गाँव स्तर पर गठित हुई हो, क्षेत्रीय स्तर पर या राष्ट्रीय स्तर पर। इन राजस्व दायों से उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों के भूमि पर स्वामित्व के ऊपर कोई असर नहीं पड़ता था। इतना ही फर्क था कि अब खेतिहर किसी एक के बजाय दूसरी संस्था को लगान देने लगता था।

इस सर्वेक्षण का सबसे महत्वपूर्ण भाग वह है जिसमें गाँव की कुल उपज में गाँव के भीतर के ताने-बाने और विभिन्न संस्थाओं तथा गाँवों के बीच की दूसरी संस्थाओं के विभिन्न खर्चों के लिए दिए गए अंशदान की जानकारी मिलती है जिसे कि 1800

से पहले के समय में स्वातंत्र्यम् कहा जाता था। इस तरह अंशदान प्राचीन रीति-रिवाजों और मान्यताओं के हिसाब से ही तय होता था। राजस्व के इस बँटवारे को सिर्फ एक आर्थिक व्यवस्था के रूप में ही देखना चाहिए और उससे गाँव और क्षेत्रीय ढाँचे को विभिन्न संस्थाओं के परस्पर महत्व और भूमिका का भी पता चलता है।

चिंगलपेट जिले के पौन्नेरी और करंगुली इलाके के चार-चार गाँवों के आँकड़ों के आधार पर मैं यहाँ कुछ निष्कर्ष देने की कोशिश करूँगा। इन गाँवों को चुनने का कोई विशेष आधार नहीं है सिवाय इसके कि अपने पड़ोस के गाँवों के आँकड़ों से पता चलता है कि उनकी कुल उपज का कोई 25 प्रतिशत से 40 प्रतिशत स्वातंत्र्यम् के तौर पर उपयोग के लिए छोड़ा जाता था। संयोगवश यह बता दूँ कि एक प्रमुख अंग्रेज कमांडर और बाद में 1827-30 तक बंबई के गवर्नर रहे जान मेल्कम ने लिखा है कि मालवा के गाँवों में यह अंशदान कुल उपज का 25 प्रतिशत बैठता था। चिंगलपेट के इन गाँवों में दूसरे भी कई कामों के लिए अंशदान में उनके भाग का जिक्र है। इनमें पाठशाला के शिक्षक, मठम्, सिद्धम्, टमटम वाला, बनिया, फकीर, तेली, बेटिट्ट्या, मस्जिद आदि आते हैं। इनमें से कुछ कार्य दूसरे गाँवों में हो सकता है न होते हों।

इसके अलावा खेती की जमीन के छोटे हिस्से का मान्यम गाँवों की कोटि में रखा जाता था। बंगाल (1770 में), कुड्डपे, बेलारी, अनंतपुर आदि जिलों में यहाँ थामस मनरो ने 1800 से 1807 के बीच अंग्रेजी प्रभुत्व कायम कर लिया था और दूसरे बहुत से इलाकों में परम्परा से मान्यम माना जाने वाला इलाका पचास फीसदी तक दिखाई देता है। कुछ जगह तो पूरे जिले मान्यम के तौर पर छोड़ दिए गए थे, ताकि वे धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का खर्च निभा सकें। कुछ जगह स्थानीय या क्षेत्रीय सेनाओं के लिए भी ऐसी व्यवस्था दिखाई देती है। बाद के एक अंग्रेजी नोट के अनुसार जो 1830 का है बंगाल प्रेसीडेंसी के जिलों में मान्यम के हकदार लोगों और संस्थाओं की गिनती दसियों हजार तक जाती थी। एक जिले में 1770 के आसपास मान्यम के दावेदारों की संख्या 70 हजार बताई गई है।

चिंगलपेट के आठ गाँवों के आँकड़ों में विभिन्न कर्तव्यों को निवाहने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं को दिए जाने वाले राजस्व के भाग में काफी अंतर दिखाई देता है। लेकिन कुल मिलाकर जिन गाँवों में सिंचाई की सुविधाएँ हैं, राजस्व का चार प्रतिशत उनके लिए छोड़ दिया गया था। इसी तरह देवी, धर्मराज या जिन्हें गाँव के मंदिर कहा जा सकता था (हालाँकि हमारी जाँच के आठ गाँवों में इस आखिरी कोटि का कोई जिक्र नहीं है) को दिया जाने वाला भाग आमतौर पर ईश्वरन, पेरुमल और पिल्लयार के दूसरे मंदिरों को दिए जाने वाले भाग से ज्यादा होता था। 1818 के एक अंग्रेजी सर्वेक्षण के अनुसार दक्षिण आरकाट जिले के बड़े, मझोले और छोटे सब मिलाकर कोई सात हजार मंदिर थे और सैकड़ों मठ और क्षत्रम् थे। मद्रास प्रेसीडेंसी के जिन दूसरे जिलों में इस तरह के सर्वेक्षण किए गए वहाँ भी उनकी संख्या तीन

से चार हजार तक निकली। एक मोटे अनुमान के अनुसार 1800 में मद्रास, प्रेसीडेंसी में मंदिरों, मठों और क्षत्रमों की कुल संख्या कोई एक लाख रही होगी। पूरे भारत में इनकी संख्या कोई पाँच लाख रही हो। इनमें से शायद पाँच फीसदी मुस्लिम धार्मिक स्थान रहे होंगे और एक हजार के करीब ईसाइयों के धार्मिक स्थान जो कि ज्यादातर केरल में थे।

गाँवों में कर्नम का, जो कि सभी तरह के रिकार्ड रखने वाला दफ्तर था और वह कोई एक व्यक्ति नहीं होता था, हिस्सा तीन से चार फीसदी तक होता था और तालियार का, जिसका मतलब गाँव पुलिस होता है, हिस्सा करीब तीन फीसदी होता था। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि तलियार, अनाज नापने-तौलने, भूमि विवादों के समय नाप-जोख करने और गाँव के दूसरे प्रशासनिक कामों के लिए पारिया या ऐसी ही दूसरी निम्न जातियों के लोगों की नियुक्ति होती थी, जैसे की महाराष्ट्र में गाँव की पुलिस में महारों को रखा जाता था। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि पुलिस या पालेगर, जो कि आज के क्षेत्रीय पुलिस महानिदेशक जैसा पद होता था, अगर चोरी गई संपत्ति वापस न दिला पाए तो उन्हें इसकी भरपाई अपने विभाग के लिए मिलने वाले खर्च से करनी पड़ती थी।

इस सर्वेक्षण से निकले आँकड़ों की और भी गहरी छानबीन करने की जरूरत है। मगर एक नजर में ही उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक सामान्य गरिमा हासिल थी और उसकी सामाजिक और आर्थिक जरूरतों का उचित तरीके से ख्याल रखा जाता था। भारत के सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप हर व्यक्ति को भोजन और आश्रय का सहज अधिकार प्राप्त था और भारत की उपजाऊ भूमि के कारण उनके इस अधिकार की सहज गारंटी भी रहती थी। मध्यकालीन भारत के एक इतिहासकार के अनुसार दिल्ली के एक शासक के खर्च के ब्यौरों में सिर्फ एक मद की जानकारी मिलती है कि वे लोगों को मुफ्त भोजन की व्यवस्था करने पर कुल कितना खर्च करते थे। हो सकता है कि उस समय राज्य के खर्च की सबसे बड़ी मद यही रही हो और यह रिवाज उसने भारतीय समाज की पुरानी परम्परा को देखते हुए चलायी हो।

इन आँकड़ों से यह पता लगता है कि राजस्व में सिर्फ गाँव के भीतर की संस्थाओं के खर्च को पूरा करने की ही व्यवस्था नहीं थी। गाँवों की अंतर्वर्ती धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, हिसाब-किताब रखने वाली और सैनिक संस्थाओं के खर्च की भी व्यवस्था थी। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँव या इसी तरह जनपद और शहर-कस्बे भी अपनी आंतरिक व्यवस्था खुद संभालते थे और उसके खर्च की व्यवस्था करने के कारण ग्राम स्वराज्य जैसी व्यवस्था कहे जा सकते हैं, मगर वे किसी माने में भी कटे हुए और अलग-अलग नहीं थे। इसके बजाय स्थानीय ढाँचा, उससे ऊपर के क्षेत्रीय या जनपदीय ढाँचे और वह अपने और ऊपर की ढाँचे की जरूरतों को पूरी

करने वाले थे और इस तरह काफी बड़े इलाके की आंतरिक एकता का निर्वाह हुआ करता था। एक तरह से यह वही ढाँचा था जिसकी तरफ गाँधीजी ने सामुद्रिक लहरों के वृत्तों के रूपक के जरिए इशारा किया था जिसका सबसे अंतर्वर्ती वृत्त अपनी स्वायत्तता बनाए रखते हुए भी ऐसे सब कामों के लिए जिन्हें वह खुद नहीं निभा सकता अपने से ऊपर वाले वृत्तों को कंधा दिए रहता है।

इस तरह देखा जा सकता है कि उपज का काफी बड़ा हिस्सा समाज के ताने-बाने और छोटी-बड़ी संस्थाओं का खर्च निबाने के लिए छोड़ दिया जाता था जबकि शिखर के ढाँचे के लिए, चाहे वह क्षेत्रीय स्तर पर हो या केंद्रीय स्तर पर, काफी थोड़ा भाग छोड़ा जाता था। शुरु के अंग्रेज अधिकारियों के अनुसार मालावार में 1740 तक कोई लगान नहीं वसूला जाता था। कन्नड़ जिलों में 15वीं शताब्दी तक लगान नहीं था और राममाड जैसे जिलों में 1790 तक बहुत थोड़ा लगान लिया जाता था। तिरुअनंतपुरम् में 19वीं शताब्दी के आरंभ तक पाँच से दस फीसदी लगान ही वसूला जाता था। शिखर के राज्य के ढाँचे के लिए भारत में पिछले पूरे इतिहास में बहुत कम भाग छोड़ा जाता रहा है। यह 1800 तक मान्यम भूमि पर खेतिहरों द्वारा चुकाए जाने वाले लगान से भी स्पष्ट है। थामस मनरो के अनुसार अंग्रेजों द्वारा लगाए गए लगान के करीब एक चौथाई के बराबर ही वह बैठता था। बहुत से मौकों पर तो खेतिहर अपनी इच्छा से मान्यम के अधिकारी को जितना उचित समझता था देता था। बंगाल के कलेक्टर ने 1770 की अपनी रपट में उन परिस्थितियों का जिक्र किया है जिनमें अंग्रेजों के ऊँचे यानी परम्परागत लगान से चौगुने लगान के वसूले जाने से परेशान होकर लोग अपनी जमीन छोड़कर मान्यम गाँवों में खेती करने के लिए जाने लगे थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में यह स्थिति 1820 तक जारी रही और थामस मनरो को मान्यम के अधिकारियों को धमकाना पड़ा कि उन्होंने किसानों को अपने यहाँ आने दिया तो उन्हें मान्यम की भूमि से हाथ धोना पड़ेगा।

इन आँकड़ों के संदर्भ में यह जान लेना उपयोगी होगा कि 1556से 1707 के बीच शासन करने वाले मुगलों के खजाने में कुल उपज का 20 फीसदी से ज्यादा कभी नहीं पहुँचा था और जहाँगीर के जमाने में तो उसका राजस्व गिरकर देश के कुल अनुमानित उत्पादन के पाँच फीसदी से भी कम रह गया था। यह जानना भी उपयोगी होगा कि चीन में राज्य को दिया जाने वाला लगान 16 वें भाग के बराबर बताया जाता है। उस जमाने में अगर चीन में यह हालात थे तो मानना चाहिए कि पूर्व और दक्षिण पूर्व एशिया के दूसरे देशों में भी मोटे तौर पर यही व्यवस्था होगी। मनु संहिता के कुल उपज में राज्य का भाग अधिक से अधिक छठवाँ बताया गया है, लेकिन आमतौर पर बारहवाँ हिस्सा लिए जाने की बात कही गई है। अंग्रेजों ने 1880 के बाद मनु संहिता को अत्याधिक महत्व देना शुरु कर दिया था। 1815 में जब लंदन में भारत की विभिन्न शास्त्रीय पुस्तकों का अनुवाद और प्रकाशन हतोत्साहित किया जा रहा था,

सिर्फ कुल्लुका भट्ट की टीका सहित मनु संहिता के ही पुनर्प्रकाशन को प्रोत्साहित किया गया था।

अलबत्ता, यह सही है कि पश्चिमी यूरोप में 18 वीं शताब्दी में जमींदारों द्वारा कृषि उपज का 50 फीसदी से 80 फीसदी तक हिस्सा वसूला जा रहा था। ऐसा लगता है कि भारत के इतिहासकारों और बुद्धिजीवियों ने अपने पश्चिमी आकाओं से विरासत में यह मान्यता दिल में बिठा ली है कि भारत में वैसी ही स्थिति रहती आई है जैसी पश्चिमी यूरोप में 18वीं शताब्दी में दिखाई देती है।

जो गाँव अपने सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थानों के लिए और कानूनगो, देशमुख, पालेगार जैसे सैनिक, राजनैतिक और हिसाब-किताब रखने वाली संस्थाओं के लिए खर्च की व्यवस्था करता था वह शीर्ष के राजनैतिक ढाँचे के लिए भी पाँच फीसदी भाग उपलब्ध कराता था। कुल मिलाकर यह पाँच प्रतिशत काफी बड़ी राशि बैठती होगी क्योंकि उसे हजारों गाँव-कस्बों से इकट्ठा किया जाता था और उसी से गाँधीजी के रुपक का यह सबसे बाहरी वृत्त अपना खर्च चलाता था। हो सकता है कि इतने अल्प साधनों के कारण ही हमारा क्षेत्रीय या केंद्रीय सैनिक ढाँचा इतना कमजोर रहा हो। मगर यह भी हो सकता है कि इस कमजोरी के कारण, साधनों की इस विकेंद्रित व्यवस्था के बजाए, सैनिक या सांस्थानिक रहे हों।

मजदूरी भी ऊँची थी और शिक्षा भी

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में या क्षेत्र के भीतर कई तरह के भूमि बंदोबस्त रहे होंगे। लेकिन उनमें से ज्यादातर जमीन पर गाँव के समाज का सर्वोच्च अधिकार स्वीकार करते थे। ऐसे भी गाँव थे जो समुदायम के आधार पर संगठित थे और जहाँ लोगों का कुल जमीन में हिस्सा तो रहता था लेकिन उनकी जोतें समय-समय पर बदल जाती थीं। गाँव समाज में शायद सिर्फ खेतिहारों को गिना जाता था और उसमें गाँव के सब परिवारों की गिनती जरूरी नहीं थी। तंजावुर जिले में, जहाँ 1805 में करीब तीस फीसदी गाँव समुदाय के आधार पर संगठित थे, जोतों में इस अदला-बदली का कारण उनका यह सोचना था कि समय के साथ भूमि के उपजाऊपन में परिवर्तन होता रहता है और इसके आधार पर समाज के सदस्यों में असमानता बढ़ सकती है। इसी को रोकने के लिए जोतों की लगातार अदला-बदली करते रहना जरूरी है।

तंजावुर जिले में 1805 में मिरासदारों यानी जिनके पास खेती की जमीन का स्थायी स्वामित्व था, की संख्या 62048 बताई गई है और इनमें से 42 हजार शूद्र जातियों के थे। इसी तरह आज के सलेम जिले में जो उस समय बड़ा महल कहा जाता था 1800 से कुछ पहले की कुल छह लाख आबादी में 32474 परिआ मानी जाने वाली जातियों से थे। चिंगलपेट जिले के कलेक्टर ने 1799 में अपने यहाँ 8300 मिरासदार

दर्ज किए हैं, मगर उसका अनुमान था कि उसके जिले में कुल मिरासदारों की तादाद दस गुना रही होगी। 1817 में तिरुनेलवेली जिले के 1080 गाँवों में 37494 मिरासदार गिने गए थे। यह कहना अनावश्यक है कि देश भर में खेतिहारों को स्थायी और वंशानुगत स्वामित्व प्राप्त था और अंग्रेजों ने 1790 के बाद इसे समाप्त करना शुरू किया। इसका एक कारण तो यह था कि उन्हें ऊँचा लगान वसूल करना था और दूसरा यह कि अंग्रेज अपने यहाँ भी किसानों के स्वामित्व के बारे में इससे बेहतर राय नहीं रखते थे।

जहाँ तक कृषि उपज और खेतिहार मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी का सवाल है जर्नल *एडिनवर्ग रिव्यू* ने सन् 1803-1804 के अंत में बताया है कि 1800 के आसपास इलाहाबाद-वाराणसी इलाके के खेत मजदूरों को ब्रिटेन के खेत मजदूरों के मुकाबले कहीं ज्यादा वास्तविक मजदूरी मिलती थी। और इस पत्रिका ने आश्चर्य व्यक्त किया था कि कृषि की गिरावट के इस काल में उनकी मजदूरी इतनी ऊँची है तो जब यह मजदूरी तय हुई होगी उस समय उसका वास्तविक मूल्य कितना ज्यादा रहा होगा। मद्रास विश्वविद्यालय के एक अर्थशास्त्री ने हाल ही में हिसाब लगाया है कि चिंगलपेट जिले में 1780-1795 के दौरान 1975 की कीमतों पर कोई साढ़े सात रुपया प्रतिदिन के बराबर मजदूरी मिलती होगी, जबकि 1975 में इस इलाके के खेत मजदूर को सिर्फ ढाई रुपया मजदूरी मिलती थी। उस समय इलाहाबाद-वाराणसी क्षेत्र में गेहूँ की उपज इंग्लैण्ड के मिलते-जुलते इलाकों के मुकाबले दुगुनी थी। यहाँ यह भी उल्लेख करना जरूरी है कि यूरोप के दूसरे इलाकों की तरह इंग्लैण्ड में उस समय साल में एक ही फसल उगाई जाती थी, जबकि भारत के अनेक इलाकों में एक से ज्यादा फसलें उगाई जा रही थीं।

बेलरी जिले के 1806 के आँकड़े उस समय की भारतीय अर्थव्यवस्था और उपभोग के ढाँचे के बारे में एक अंदाज दे सकते हैं। ये आँकड़े इस जिले के लोगों के कुल उपभोग से सम्बन्धित हैं। और फिर वे अंग्रेजों द्वारा तीन वर्गों में बाँटे गए उपभोक्ताओं के उपयोग के बारे में जानकारी देते हैं। पहले वर्ग में उन्होंने अमीर परिवारों को रखा जिनकी कुल आबादी 259568 थी। दूसरे वर्ग में मझोली हैसियत के परिवार रखे गए जिनकी कुल आबादी 372887 थी। तीसरे वर्ग में नीची हैसियत वाले परिवारों को रखा गया जिनकी तादाद 218684 थी। सर्वेक्षण के अनुसार तीनों वर्गों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले अनाज की गुणवत्ता और उसके मूल्य में फर्क था लेकिन अनाज की खपत उतनी ही थी यानी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन आधा सेर अनाज। इस सर्वेक्षण में 23 वस्तुओं को शामिल किया गया था जिसमें दालें, पान, घी, तेल, इमली, हरा और सूखा नारियल, दवाएँ, कपड़ा, ईधन, सब्जियाँ और सुपारी आदि शामिल थीं। इस ब्यौरे के अनुसार छह लोगों के एक औसत परिवार में पहले वर्ग में पान की खपत 9600 थी, दूसरे वर्ग में 4800 और तीसरे वर्ग में 3600 थी। तेल की

खपत का अनुपात तीन और एक-एक था तथा दालों का अनुपात आठ, चार और तीन। प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष कुल खपत पहले वर्ग में 17 रुपए 3 आने और 4 पैसे थी, दूसरे वर्ग में 9 रुपए 2 आने और 4 पैसे तथा तीसरे वर्ग में 7 रुपए और 7 आने।

ऊपर दिए गए आँकड़ों को औसत ही मानना चाहिए क्योंकि यह हो सकता है कि पहले वर्ग में कुछ परिवारों का उपभोग का स्तर औसत से काफी ऊपर रहा हो। अमीर लोगों और साधारण लोगों के उपभोग के स्तर में कितना फर्क होता था इसकी जानकारी 1799 के कर्नाटक के आँकड़े भी देते हैं। टीपू सुल्तान के राज्य के बारे में काफी जाँच पड़ताल के बाद अंग्रेज इस नतीजे पर पहुँचे कि टीपू के सबसे ऊँची तनखाह पाने वाले अफसर यानी चित्रदुर्ग किले के गवर्नर को कुल सौ रुपए प्रतिमाह वेतन मिला था। उस समय इस इलाके के साधारण मजदूर को करीब चार रुपए प्रतिमाह मिलता था। अंग्रेजों के आने के बाद यह अंतर कितना बढ़ गया इसे इस तथ्य से समझा जा सकता है कि अंग्रेज जिला कलेक्टर का वेतन 1500 रुपए प्रतिमाह तय किया गया था और ब्रिटिश गवर्नर की कौंसिल के सदस्य को छह हजार से आठ हजार रुपए मिलते थे जबकि 1760 से 1850 के बीच आम मजदूर या कारीगर को 1760 के मुकाबले एक तिहाई या हद से हद आधी मजदूरी ही मिल रही थी।

यह नई असमानता सिर्फ अंग्रेज अधिकारियों के वेतन तक ही सीमित नहीं थी। जहाँ-जहाँ के बारे में राजकीय नीति तय हुई, ऊँचे भारतीय अधिकारियों के भी वेतन बढ़ा दिए गए। इसका उदाहरण उदयपुर के महाराणा के निजी खर्च में की गई बढ़ोत्तरी से मिल सकता है। अंग्रेजों के संरक्षण में आने से पहले यानी 1818 तक महाराणा को एक हजार रुपया प्रतिमाह खर्च उपलब्ध था, ऐसा बताया जाता है। जैसे ही अंग्रेजों ने उदयपुर को अपने संरक्षण में लिया राज्य के दूसरे कई खर्चों में तो कटौती कर दी गई या पाबंदी लगा दी गई, लेकिन महाराणा के निजी खर्च को एक हजार रुपया प्रतिदिन कर दिया गया।

अंग्रेजों ने भारत की कोई स्पष्ट शिक्षा नीति बनाने से पहले उस समय मौजूद देसी शिक्षा के कुछ सर्वेक्षण करवाए थे। ऐसा ही विस्तृत सर्वेक्षण 1822-25 के बीच मद्रास प्रेसीडेंसी में करवाया गया था जिसमें आज का पूरा तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश का काफी बड़ा हिस्सा, कर्नाटक, केरल और ओड़ीसा के कई जिले आते थे। सर्वेक्षण से पता लगा कि प्रेसीडेंसी में उस समय तक 11575 स्कूल और 1094 कॉलेज मौजूद थे। उनमें 157195 और 5431 विद्यार्थी पढ़ रहे थे। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण जानकारी विद्यार्थियों की जातियों के बारे में मिलती है जो पुरानी भारतीय शिक्षा के बारे में हमारे आज बने हुए पूर्वाग्रहों को तोड़ती है। इस सर्वेक्षण के अनुसार तमिलभाषी इलाकों में स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों में 70 से 80 फीसदी छात्र शूद्र मानी जाने वाली जातियों से थे, ओड़ीसा भाषी इलाकों में उनके 62 फीसदी छात्र थे, मलयालम भाषी क्षेत्रों में 54 फीसदी और तेलुगू भाषी क्षेत्रों में 35 से 40 फीसदी।

मद्रास के गवर्नर के हिसाब से स्कूल जाने वाली उम्र के 25 फीसदी लड़के स्कूल जाते थे और इस उम्र के लड़कों और लड़कियों का काफी बड़ा हिस्सा घर पर शिक्षा लेता था। मद्रास के सर्वेक्षण के अनुसार शहर में 26446 लड़के घर पर शिक्षा ले रहे थे जबकि स्कूल जाने वाले छात्रों की संख्या 5523 थी। इसी तरह मालावार इलाके में घर पर कॉलेज स्तर की शिक्षा लेने वाले लोगों की संख्या 1594 थी जबकि कॉलेज जाकर पढ़ने वाले लोगों की संख्या 75 थी। मालाबार इलाके में स्कूल जाने वाली लड़कियों की भी ऊँची तादाद थी। स्कूल जाने वाले 3196 लड़कों के मुकाबले 1122 लड़कियाँ स्कूल जा रही थीं। इस सर्वेक्षण के 62 साल बाद यानी 1884-85 में स्कूल जाने वाली लड़कियों की संख्या कुल 705 रह गई थी। जबकि इस दौरान इस क्षेत्र की जनसंख्या दुगुनी हो चुकी थी।

हो सकता है कि 18वीं शताब्दी में ऊँची शिक्षा एक अध्यापक द्वारा विद्यार्थियों के छोटे समूहों को पढ़ाने के रूप में दी जाती हो। लेकिन बंगाल के नवद्वीप विश्वविद्यालय की 1790 के आसपास की एक रपट बताती है कि उस समय वहाँ 1100 छात्र पढ़ते थे और विश्वविद्यालय में 150 अध्यापक थे। ऊँची शिक्षा में किस विषय को कितना महत्व दिया जाता था इसका अंदाज 1835-38 के बंगाल और बिहार के पाँच जिलों के आँकड़ों से लगाया जा सकता है जिनके अनुसार सबसे ज्यादा यानी 1424 छात्र व्याकरण पढ़ रहे थे, 378 तर्कशास्त्र और 336 विधि।

भारत और चीन : रिश्तों की उठा-पटक

भाष्कर राय*

जब चीन के नेतागण चीन और भारत के बीच 2000 वर्ष के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की बात करते हैं तो वे कुछ तीखे सवालों से कन्नी काट जाते हैं। वस्तुस्थिति, वास्तव में, भ्रामक है। कुछ थोड़े से बौद्ध भिक्षुओं ने अपने दर्शन का प्रचार करने के लिए तिब्बत और चीन की यात्रा की थी। उससे भी कम चीनी विद्वान उस समय के दुनिया के सबसे बड़े विश्वविद्यालय नालंदा में अध्ययन हेतु आए। इनकी तुलना में दक्षिण पूर्व एशिया से आने वाले विद्वानों की संख्या बहुत ज्यादा थी। सच्चाई यह है कि भारतीय संस्कृति और धर्म की जड़ें प्राचीन काल में दक्षिण पूर्व एशिया में कहीं ज्यादा गहरी थीं। इन्हें वहाँ के लोगों द्वारा समझा और सराहा गया हैकम्पूचिया में अंकोर वाट, इंडोनेशिया और थाईलैंड में बाली।

इसलिए पिष्टपेषण करने की बजाए भारत और चीन के नेताओं को राजनैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक सभी क्षेत्रों में उन मूल कारणों की तलाश करनी चाहिए जिनके नाते इस वैमनस्य की शुरुआत हुई और तत्पश्चात् इसको दूर करने के उपाय खोजने चाहिए। लेकिन यह रास्ता आसान नहीं है और इसे एशिया में केंद्रीय राज्य या मुख्य राज्य बन जाने के चीने के संकल्प ने और भी जटिल बना दिया है। एक ऐसा राज्य जिसके चारों ओर इस विशाल महाद्वीप के छोटे-छोटे देश परिक्रमा कर रहे हों।

पृथ्वी पर एक ऐसा सौरमंडल है जिसमें चीनी सम्राट “स्वर्ग की संतान” हो और जिसे छोटे-छोटे राज्य सलामी दे रहे हों, चीन की एक पुरानी दार्शनिक अवधारणा है। इसका बड़ा गहरा अर्थ था और यह पितृसत्ता के नेतृत्व में एक “सामंजस्यपूर्ण समाज” का विचार हो सकता है। सम्भव है कि राष्ट्रपति और चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी (सी सी पी) के महासचिव हु जिन्ताओ ने अपनी “सामंजस्यपूर्ण दुनिया” के सिद्धान्त की प्रेरणा यहीं से पाई हो। कम्यूनिस्ट चीन की पहली पीढ़ी के नेता माओ जेदांग

* लेखक जाने-माने सुरक्षा विशेषज्ञ हैं।

(Mao Zedong) दक्षिण एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के नक्शों को चिह्नित करते हुए गोल घेरे बनाते थे जिनमें यह दर्शाया गया होता था कि चीन को किन देशों पर सम्प्रभुता, किन पर आधिपत्य और किन पर शुरुआती प्रभाव रखना चाहिए। लद्दाख और अरुणाचल प्रदेश के साथ नेपाल, सिक्किम और भूटान सम्प्रभुता और आधिपत्य वाले घेरे में पड़ते थे।

माओ को पूरी जानकारी थी कि यदि कभी सम्भव भी हुआ तो भी ऐसी रणनीति की सफलता में अगर एक शताब्दी नहीं तो कई दशक जरूर लग जाएँगे। इसलिए सवाल उठता है कि क्या 1950 और 1988 में सीमा विवाद सुलझाने की चीन की पेशकश न मानने से वाकई भारत का नुकसान हुआ? लेकिन ऐसा लगता है कि 1988 की संदिग्ध शर्तों वाली पेशकश में, जिसे चीन द्वारा बाद में केवल एक विचार कहकर वापस ले लिया गया, ऐसा कुछ भी नया नहीं था जो अरुणाचल प्रदेश में न्यूनतम तवांग की मांग से अलग हो। हालाँकि चीन द्वारा तवांग पर इस आधार पर दावा किया जाता है कि वहाँ छोटे दलाई लामा पैदा हुए थे, यह भारत के लिए भी सिलीगुड़ी कॉरीडोर की दृष्टि से रणनीतिक महत्व का है जो कि पूर्वोत्तर भारत और शेष भारत के बीच जमीनी संपर्क का एकमात्र छोटा-सा जरिया है। दूसरी तरफ चीन के लिए तवांग का कब्जा उतने ही रणनीतिक महत्व का है। जो कि उसे भारत के विरुद्ध बेजोड़ सैन्य क्षमता प्रदान कर देगा।

2005 में जब चीन के प्रधानमंत्री वे जियाबाओ भारत आए तो दोनों पक्षों के बीच सीमा विवाद सुलझाने के तौर-तरीके तय करने के लिए एक समझौता किया गया। इस समझौते की एक शर्त ये थी कि आबादी का स्थानांतरण नहीं होगा (शर्त 4)। अब तवांग के कारण चीनी इस शर्त से इनकार कर रहे हैं।

सभी जानते हैं कि चीनी अधिकारियों में भावुकता को छोड़कर बाकी सब कुछ है। जैसा कि वे कहते हैं कि तवांग पर उनका दावा तिब्बती लोगों की भावनाओं के सम्मान में है, एक कमजोर तर्क है जिसमें कोई दम नहीं है। तवांग का सैन्य और रणनीतिक महत्व है। कोई अन्य कारण नहीं है।

भारत और चीन के लोग भारत और चीन के बीच संदेह, या अविश्वास (दोनों के अर्थ में बड़ा अंतर है) की बात करने लगे हैं। दोनों ही सही हैं। लेकिन दोनों का मूल कारण अलग-अलग हैं। चीन के मामले में, इसको सरकार द्वारा गढ़ा गया है। भारत के मामले में यही बात 1962 के “पीठ में छुरा भोंकने” और 1962 में लड़ाई के मोर्चे पर चीनी सैनिकों द्वारा “हिन्दी-चीनी भाई-भाई” के गुणगान को रौंदने में है।

यहाँ उस सहयोग, प्रेम और सराहना की बात करना बेमानी है जो चीनी लोगों के प्रति भारतीयों के मन में थी, खासकर जापान के विरुद्ध युद्ध के दौरान। जवहारलाल नेहरू और कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर इसके मुख्य प्रेरणा-स्रोत थे। भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में पंडित नेहरू ने हर विषम परिस्थिति में माओ के चीन का

समर्थन किया। लेकिन उन्हीं के खिलाफ चीन का दुष्प्रचार सबसे तीखा रहा है। हाल के इतिहास में भारत ने चीन के सबसे कठिन समय में उसका साथ दिया है जिसमें थ्येन मान चौक की घटना पर 1989 में चीन के विरुद्ध अन्तरराष्ट्रीय कर्वावाई का दौर भी सम्मिलित है। चीन ने इन सबका बदला 1998 में भारत के परमाणु परीक्षण के बाद भारत के विरुद्ध जमकर दुष्प्रचार करके दिया और भारत का परमाणु कार्यक्रम बंद कराने के लिए अन्तरराष्ट्रीय दबाव बनाने की कोशिश की। इस शताब्दी में भी इन हमलों में कमी नहीं आई है।

दोनों देशों की जनता के आपसी संवाद के प्रसंग में देखें तो पिछले छः दशकों से स्कूल के प्रारम्भिक दिनों से ही चीन के बच्चों को सरकार द्वारा अपनी खास घुट्टी पिलाकर बड़ा किया जा रहा है। इसके तहत इतिहास और कला के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र शामिल हैं। विदेशियों को असभ्य और शत्रु बताया जा रहा है जिन पर भरोसा नहीं करना है। चीन ने अब अति राष्ट्रवादी “नेट नागरिकों” (Netizens) या कम्प्यूटर नेटवर्क का प्रयोग करने वालों की एक पूरी फौज खड़ी कर ली है जो चीन की आलोचना का संकेत मात्र पाकर “वर्ल्ड वाइड वेब” पर छा जाते हैं। चीनी अधिकारी इस समूह का इस्तेमाल एक वैकल्पिक युद्ध इकाई के रूप में कर रहे हैं जबकि यह नीति उन्हें स्वयं अवरुद्ध कर सकती है जैसा कि पाकिस्तान के राज्य प्रायोजित आतंकवादियों के साथ हो रहा है।

चीन यह दावा कर सकता है कि इसने भारत को छोड़कर सभी देशों के साथ अपने सीमा विवाद सुलझा लिए हैं। लेकिन पाकिस्तान को छोड़कर इसकी सीमा से लगे सभी देशों के बीच इसके प्रति विश्वास में कमी आई है। रुस के साथ सैन्य व्यापारिक खरीद वाले सम्बन्धों के बावजूद ऐतिहासिक कारणों अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के इतिहास के कारण दोनों देशों के बीच गहरे अविश्वास का भाव है।

जहाँ तक भौगोलिक विवादों का प्रश्न है, दक्षिण चीन सागर में चीन के दावों ने इसे फिलीपीन, वियतनाम, ब्रुनेई और ताईवान के विरुद्ध ला खड़ा किया है। दक्षिण चीन सागर के भौगोलिक क्षेत्र का मुद्दा मुख्य रूप से उस क्षेत्र में चीन की सैन्य तिकड़मबाजियों के साथ उसके हाल के दुराग्रही रवैये के कारण “गरमाता” जा रहा है।

दूसरा “गर्म मुद्दा” पूर्वी चीन सागर में सेनकाकू (Diayou) द्वीपसमूह पर चीन का दावा है जो कि जापान के कब्जे में है। और वियतनाम के साथ सारे सीमा विवादों का हल अभी भी नहीं हुआ है।

चीन के लगातार दुष्प्रचार को देखते हुए, जिसमें उसके पक्के साथी पाकिस्तान का सुर भी मिला हुआ है और हाल ही में जिसमें नेपाल का एक वर्ग भी शामिल हो गया है, चीन के ये संदेहास्पद भौगोलिक दावे दक्षिण एशिया में गुम हो गए हैं।

चीनी दुष्प्रचार और मनोवैज्ञानिक मीडिया युद्ध जिसे पूर्व सोवियत यूनियन की के.जी.वी. “सक्रिय उपाय” कहती थी, के वास्तविक दुष्प्रभाव को भारत में सरकार,

बुद्धिजीवी वर्ग, मीडियाकर्मियों, राजनेताओं तथा अपने आप को सचेत कहने वाली आम जनता द्वारा नहीं समझा गया है। इसका कारण यह है कि भारत के राजनीतिक, नौकरशाह और मीडिया प्रतिष्ठान चीन द्वारा पाले-पोसे गए एक विरोधी, पाकिस्तान, में ही उलझे पड़े हुए हैं जिसे डील करना आसान है और जिसमें जनता की रुचि भी ज्यादा है। यह दुःखद है।

भारत को निशाने पर लेकर किए गए चीनी दुष्प्रचार पर कोई लगाम नहीं है। इसीलिए हाल ही में जब *टाइम्स ऑफ इंडिया* और *हिन्दुस्तान टाइम्स* जैसे भारतीय अखबारों ने चीन की नापसंदगी वाली निपोर्टे प्रकाशित कीं तो चीन के अधिकारियों ने क्षोभ व्यक्त किया और बेचैन हो गए। बीजिंग के अधिकारी काफी व्यथित हुए। केवल उन्हीं की चलनी चाहिए, नहीं तो माओ से लेकर आजतक कम्प्यूनिस्ट चीन के नेताओं का नजरिया विदेशी सम्बन्धों में समस्यापूर्ण रहा है। यह जानबूझकर पैदा की गई धृष्टता प्रतीत होती है। जिससे कि वार्ताकार या विरोधी दबाव में रहे। किसी को भी बख्शा नहीं गया है पूर्व सोवियत यूनियन, यू.एस.ए., जापान और भारत तो खैर हैं ही।

हाल ही में, इस समय भी, भारत को दक्षिण एशियाई परिप्रेक्ष्य में एक आधिपत्यवादी देश के रूप में दिखाया गया है। पिछले एक वर्ष में नेपाल में चीन के राजदूतों, आने वाले चीनी अधिकारियों और चीन सरकार के सलाहकारों ने खुद पहल करके नेपाल को इसकी सम्प्रभुता और भौगोलिक अखंडता की रक्षा करने का भरोसा दिलाया है। यहाँ तक कि एक वरिष्ठ चीनी विद्वान और चीन की सरकार के सलाहकार ने काठमांडू में एक अखबार के साक्षात्कार में खुलकर कहा कि चीन को इस बात की जानकारी है कि भारत नेपाल को “सिक्किम बनाने” की योजना बना रहा है और चीन चुपचाप नहीं बैठेगा।

इससे पहले पिछले वर्ष चीनियों द्वारा अरुणाचल प्रदेश में विकास कार्यों के लिए एशियन डेवलपमेंट बैंक की एक सहायता का विरोध किया गया। चीनी अपने प्रयास में असफल रहे लेकिन ये सब बातें रिकार्ड में हैं। जून 2009 में चीन ने यू.एन. में पाकिस्तानी *जमात-उद-दावा* के मुखिया हाफिज मोहम्मद सईद को आतंकवादी घोषित कराने के भारत के प्रयास में इस आधार पर अड़ंगा लगा दिया कि उसके खिलाफ पर्याप्त सबूत नहीं हैं। बेशक, चीन पाकिस्तान के हित में काम कर रहा था। लेकिन इससे आतंकवाद का मुकाबला करने की वीजिंग की प्रतिबद्धता पर स्पष्ट संदेह उभरा।

2008 में बीजिंग में चीन के विदेश मंत्रालय द्वारा जिस अभद्र तरीके से आधी रात को आज की विदेश सचिव और तत्कालीन राजदूत निरुपमा राव को भारत में तिब्बती गतिविधियों पर डेमार्श (कठोर प्रतिक्रिया) पढ़कर सुनाए जाने के लिए बुलाया गया था, उसे भारतीय भूले नहीं हैं। इसके बाद बड़ा झटका तब लगा जब

वीजिंग ने न्यूक्लियर सप्लायर्स ग्रुप (एन.एस.जी.) की बैठक में भारत-अमेरिका नागरिक परमाणु समझौते में अड़ंगा लगाने की कोशिश की। हालाँकि परिस्थितियों ने वार्ता की पूर्व संध्या पर वीजिंग को अपने रुख में नरमी लाने के लिए मजबूर कर दिया। नई दिल्ली में राजदूत झांग यान ने भारत के साथ मजबूत होते सम्बन्धों को लेकर *पीपुल्स डेली* में एक लेख लिखा। चीनी प्रतिनिधिमंडल के नेता और चोटी के वार्ताकार डार्ड बिंगाऊ ने कहा कि चीन अन्तरराष्ट्रीय मामलों में भारत की एक वृहत्तर भूमिका का समर्थन करता है। दोनों पक्षों ने सकारात्मक रुख का प्रदर्शन किया और किसी भी प्रकार की असहमति के सार्वजनिक प्रदर्शन से बचे।

इस वार्ता के ठीक पहले भारतीय विदेश मंत्रालय ने एक संदेश भेजने का निर्णय लिया कि अब भारत दबाव में नहीं आएगा। विदेश राज्यमंत्री शशि थरुर ने कहा कि अरुणाचल प्रदेश पर चीन का कोई अधिकार नहीं है। बीजिंग में भारतीय दूतावास ने चीनी अखबारों को भारतीय बाजार के संरक्षणवाद पर उनके लेखों का प्रतिवाद करते हुए एक प्रेस विज्ञप्ति जारी की। स्पष्ट कर दिया गया कि चीन अपने खराब सामान यहाँ डंप कर रहा है। चीन को लेकर भारत की नीति में यह परिवर्तन स्वागतयोग्य था।

सम्भव है कि भारत में भारत-चीन सम्बन्धों के आम प्रेक्षकों की नजर इस वार्ता के ठीक पहले चीन द्वारा नियंत्रित हांग कांग के चीनी भाषा के अखबार *ता कुंग पाओ* में प्रकाशित एक लेख पर न पड़ी हो। इसमें टिप्पणी की गई थी कि “आज के विश्व की स्थिति में जहाँ चीन-अमेरिका-रुस की त्रयी स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ गई है, भारत की आर्थिक दृष्टि से अमेरिका और सैन्यशक्ति की दृष्टि से रुस से नजदीकियाँ बढ़ाने की रणनीति से पता चलता है कि यह चीन के साथ असहयोग (इसे ‘टकराव’ पढ़ा जा सकता है)” की राह पर है। इस टिप्पणी में आगे यह भी कहा गया था कि इससे एशिया में भारत के उदय और दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय शक्ति की भूमिका पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

हांग कांग में *ता कुंग पाओ* और *वेन वी पो* अखबार चीन द्वारा बाहरी दुनिया में अपने विचारों को पहुँचाने के साधन के तौर पर स्थापित किए गए थे। इसलिए इन अखबारों में लिखा गया कुछ भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। फिलहाल इस मामले में *ता कुंग पाओ* की रिपोर्ट से एक बहुत गम्भीर संदेश मिलता है कि चीन की नजर में अमेरिका के साथ भारत का बढ़ता रणनीतिक सम्बन्ध और रुस के साथ बढ़ता सैन्य सहयोग एशिया में सर्वोच्च शक्ति बनने, अर्थात् एकध्रुवीय एशिया जिसमें चीन एकमात्र ध्रुव हो, की चीन की हवस के लिए चुनौती बनते जा रहे हैं। यह चेतावनी भी बिलकुल स्पष्ट थी कि यदि भारत ने एशिया में अपनी स्वच्छंद महत्वाकांक्षाओं पर लगाम नहीं कसी तो दक्षिण एशिया में भारत को अस्थिर करने के लिए चीन कुछ भी करेगा।

इससे तगड़ी धमकी की अपेक्षा नहीं की जा सकती जबकि चीन इसके साथ ही भारत के साथ सामान्य बातचीत भी जारी रखे हुए हैं।

यह कोरी धमकी नहीं है। ऐसा लगता है कि भारत विरोधी एक बड़े केन्द्र के रूप में पाकिस्तान को आधार बनाकर चीन भारत के विरुद्ध इसके अधिकांश पड़ोसियों का उपयोग कर रहा है। नेपाल में चीन की जिन गतिविधियों की चर्चा की जा चुकी है, उसके अलावा हाल ही में पाकिस्तान के विदेश मंत्रालय ने नेपाल और नेपाली सरकार के इच्छुक वर्ग से संपर्क साधा जिससे कि इस क्षेत्र में परस्पर सहयोग और लाभ के लिए नेपाल-चीन-पाकिस्तान की एक त्रयी बनाई जा सके। यह संदेश पिछले साल की शुरुआत में पाकिस्तान के विदेश सचिव सलमान बशीर द्वारा काठमाण्डू को दिया गया था।

अब जबकि यह बात खुल चुकी है कि चीन सरकार के नियंत्रण वाले बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान नारिंको (NORINCO) ने एल टी टी ई को लाखों डालर के हथियारों और गोलाबारुद की सप्लाई की, इसके बावजूद श्रीलंका में राष्ट्रपति महिंद्रा राजपक्षे और उनकी सरकार श्री लंका के तमिल मुक्ति चीते एल टी टी ई के विरुद्ध लड़ाई में बीजिंग के प्रचुर सैन्य सहयोग के कारण उसके प्रति झुकाव रखते प्रतीत होते हैं। राष्ट्रपति राजपक्षे इतने भोले नहीं हैं कि एल टी टी ई नारिंको सम्बन्ध को न समझते हों लेकिन एक सिंहली राष्ट्रवादी के रूप में उनके हित कहीं और हैं। वह एल टी टी ई से वार्ता करने की पश्चिम की सलाह की अवहेलना करने और पश्चिम की आलोचना करने में भी सफल रहे हैं।

बहुत नपे-तुले वक्तव्य में श्रीलंका के विदेश मंत्री रसिथा बोगोल्लोगामा ने भारत और चीन के सम्बन्ध का वर्णन कुछ इस प्रकार किया भारत के साथ एक पुराना ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध है; चीन “जरुरत के वक्त का साथी” है। राजपक्षे सरकार के तहत श्रीलंका के झुकाव की अब और व्याख्या की जरुरत नहीं रह जाती।

श्रीलंका के रणनीतिक सम्बन्धों में एल टी टी ई की हार के तुरन्त बाद बदलाव देखा गया। इसमें सबसे ज्यादा चौंकाने वाली थी राष्ट्रपति राजपक्षे की म्यामार की विदेश यात्रा जो उनके विदेशमंत्री द्वारा अति महत्वपूर्ण बताई गई। इसके बाद श्रीलंका में आन्तरिक विस्थापन के शिकार लोगों के लिए म्यामार की आर्थिक सहायता और विदेशमंत्री न्यान विन की कोलंबो यात्रा सम्पन्न हुई। इसी के साथ श्रीलंका की तरफ से चीन की उच्च स्तरीय यात्राओं और श्रीलंका में चीनी सरकार द्वारा नियंत्रित कम्पनियों में निवेश के ज्यादा अवसरों में भी वृद्धि हुई।

ब्यों की सूची लम्बी है लेकिन श्रीलंकाचीनम्यामार की जो नई त्रयी उभरकर सामने आ रही है, वैसी पहले कभी नहीं देखी गई थी। श्रीलंका को पाकिस्तान द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सैन्य सहयोग के साथ ही भारत के चारो ओर तथाकथित

चीनी मोतियों की माला सम्पूर्ण प्रतीत होती है। जहाँ तक इस राजनीतिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, बांग्लादेश में केवल सत्ता परिवर्तन के समय ही ढाका इस खेल में भागीदार नहीं होता।

अगर मोटे तौर पर खेल के नियम बनाए जाएँ तो मैट्रिक्स (व्यूह रचना) कुछ इस प्रकार की होगी

* पाकचीननेपाल

* श्रीलंकाचीनम्यामार

* पाकचीनम्यामार

* पाकश्रीलंकाचीन

* सत्ताधारी सरकार के अनुसार बांग्लादेश भीतर-बाहर होता रहता है।

उपरोक्त मैट्रिक्स ध्यान में रखते हुए भारत की विदेश नीति निर्धारित करने वाले उच्चाधिकारियों से एक गम्भीर सवाल किया जाना चाहिए कि ऐसा क्यों है कि भारत के अपने अधिकांश पड़ोसियों से सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं जबकि उनमें से अधिकांश अनेक तरीके से भारत पर आश्रित हैं। पाकिस्तान एक अपवाद है क्योंकि इस समस्या की जड़ें भारत विभाजन से जुड़ी हुई हैं।

समझा जाता है कि अपेक्षाकृत छोटे देशों को अपने सम्पन्न और बड़े पड़ोसियों से अनेक शिकायतें होती हैं। लेकिन भारत सारा दोष इन पड़ोसियों के मत्थे नहीं मढ़ सकता। कहने का मतलब यह है कि भारतीय राजनयिकों ने कभी-कभी अहंकारपूर्वक और कभी-कभी उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया है। एक गहन आत्मान्वेषण की सख्त जरूरत है। अब यहाँ भारतीय कूटनीति की प्रवृत्ति का गम्भीर प्रश्न सामने आता है।

लेकिन चीन के मामले में भारतीय कूटनीति अतीत में कुछ ज्यादा ही उदार रही है। भारत-चीन (तिब्बत) सीमा पर चीनी सैनिकों द्वारा अक्सर 1993 के शांति समझौते और 1966 के विश्वास बहाली के उपायों वाले समझौते का उल्लंघन किया जाता रहा है जबकि ये दोनों ही समझौते दोनों देशों के उच्चतम स्तर पर हुए हैं। भारत की जनता को इस बारे में जागरूक करने के बहुत नाकाफी प्रयास हुए हैं। भारतीय पक्ष के इसी रवैये के कारण चीन का मनोबल बढ़ता चला गया कि वह भारत को शांतिपूर्ण सम्बन्ध के हित में दबाता चला जाए।

एक पुरानी चीनी कहावत है “ताकतवर का सम्मान करो, और कमजोर को दबाओ”। इसीलिए भारत के अपने अधिकारों, अपनी सम्प्रभुता और क्षेत्रीय अखंडता के दावे से चीनी अधिकारी हक्के-बक्के हो गए हैं।

हाल ही में 13वीं एस आर स्तरीय वार्ता की पूर्व संध्या पर चीन ने मैत्रीपूर्ण रुख अपनाकर अपनी आक्रामक गतिविधियों को चालाकी भरा विराम दिया। हाल की कुछ घटनाओं के कारण चीन भारत के साथ तनाव बढ़ाने की स्थिति में नहीं है। इनमें से एक घटना है चीन के उत्तरी झिंगजियांगउइगर स्वायत्त क्षेत्र की राजधानी उरुम्की

में 5-6 जून 2009 को हुए उइगर मुस्लिम दंगे। चीन में अल्पसंख्यक मामलों की यह एक गम्भीर समस्या है, मुख्य रूप से बीजिंग का किया धरा। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताएँ हैं, शायद तिब्बत के मामले से भी ज्यादा क्योंकि उइगर मुद्दा एक मुस्लिम मसला है।

अन्य समस्याओं में जापान के साथ खराब सम्बन्ध, इस क्षेत्र में भौगोलिक सीमा विवाद जिसकी चर्चा हो चुकी है, अमेरिका की निगहबानी में रणनीतिक कदम और अमेरिका की चीन नीति में भारत की संभावित भूमिका तथा अन्य अनेक हैं।

लेकिन सबसे ज्यादा जोर मुख्य रूप से भारत पर है।

चीन के रणनीतिकार, जिनमें राष्ट्रपति हू जिन्ताओ और पीपुल्स लिबरेशन आर्मी (पी एल ए) के कट्टरपंथी भी शामिल हैं, एशिया और इस दुनिया पर चीन का वर्चस्व कायम करने की हड़बड़ी में लगते हैं। वे अपनी आर्थिक ताकत (विदेशी मुद्रा में 2.15 ट्रिलियन और दुनिया में लगभग दूसरे नंबर की आर्थिक महाशक्ति) के सहारे अपने राष्ट्रीय सुरक्षा घेरे से बहुत आगे निकलकर सैन्य आक्रमण क्षमता बढ़ा रहे हैं। 2004 की चीन की रणनीतिक बहस के अनुसार इसका उद्देश्य है, उत्तरी अफ्रीका की पश्चिमी लाइन से लेकर हिंद महासागर और केंद्रीय एशिया सहित एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के पूर्वी लाइन तक अपने वर्चस्व को मजबूती प्रदान करना। वाकई बड़ी ऊँची महत्वाकांक्षा है।

भारत की विदेश नीति में नया बदलाव, जिसमें चीन और न्यूनतम विश्वसनीय परमाणु प्रतिरोधक क्षमता के विकास का संकल्प सम्मिलित है, बीजिंग की चिंता का कारण है।

शीत युद्ध का लाभ सबसे ज्यादा चीनियों को मिला, कम से कम भारत की तुलना में। लेकिन जैसा कि *ता कुंग पाओ* के लेख से पता चलता है, अब भारत को अमेरिका और रुस दोनों के साथ एक रणनीतिक व्यवस्था में देखा जाता है। “चीनरुसअमेरिका” की त्रयी महज एक खयाली पुलाव है।

कहने का तात्पर्य है कि दक्षिण एशिया से लेकर दक्षिण पूर्व एशियाएशिया प्रशांत में भारी तनाव होगा राजनीतिक, कूटनीतिक, आर्थिक और सैन्य। चीन द्वारा भारत को पछाड़ने के प्रयासों के बावजूद भारत एक बड़ी भूमिका में है। भारत-दक्षिण कोरिया मुक्त व्यापार समझौता (एफ.टी.ए.) महत्वपूर्ण है। भारत-असियान मुक्त व्यापार समझौता अब बस वक्त की बात है। असली खेल तो अभी बाकी है।

(मूल लेख : “India and China # Why Difficult Meeting Ground?”
डायलॉग 11-1; अनुवादक : रघुवीर शर्मा)

संसार सागर के नायक

अनुपम मिश्र*

कौन थे अनाम लोग?

सैकड़ों, हजारों तालाब अचानक शून्य से प्रकट नहीं हुए थे। इनके पीछे एक इकाई थी बनवाने वालों की, तो दहाई थी बनाने वालों की। यह इकाई, दहाई मिलकर सैकड़ों हजार बनती थी। लेकिन पिछले 200 बरसों में नए किस्म की थोड़ी-सी पढ़ाई पढ़ गए समाज ने इस इकाई, दहाई, सैकड़ों, हजार को शून्य ही बना दिया। इस नए समाज के मन में इतनी भी उत्सुकता नहीं बची कि उससे पहले के दौर में इतने सारे तालाब भला कौन बनाता था। उसने इस तरह के काम को करने के लिए जो नया ढांचा खड़ा किया है, आई.आई.टी. का, सिविल इंजीनियरिंग का, उस पैमाने से, उस गज से भी उसने पहले हो चुके इस काम को नापने की कोई कोशिश नहीं की।

वह अपने गज से भी नापता तो कम से कम उसके मन में ऐसे सवाल तो उठते कि उस दौर की आई.आई.टी. कहाँ थी। कौन थे उसके निर्देशक? कितना बजट था, कितने सिविल इंजीनियर निकलते थे? लेकिन उसने इस सबको गए जमाने का गया, बीता काम माना और पानी के प्रश्न को नए ढंग से हल करने का वायदा भी किया और दावा भी। गाँवों, कस्बों की तो कौन कहे, बड़े शहरों के नलों में चाहे जब बहने वाला सन्नाटा इस वायदे और दावे पर सबसे मुखर टिप्पणी है। इस समय के समाज के दावों को इसी समय के गज से नापें तो कभी दावे छोटे पड़ते हैं तो कभी गज ही छोटा निकल आता है।

इस गज को अभी यहीं छोड़ें और थोड़ा पीछे लौटें। आज जो अनाम हो गए, उनका एक समय में बड़ा नाम था। पूरे देश में तालाब बनते थे और बनाने वाले भी पूरे देश में थे। कहीं यह विद्या जाति के विद्यालय में सिखाई जाती थी तो कहीं यह जात से हटकर एक विशेष पाँत भी बन जाती थी। बनाने वाले लोग कहीं एक जगह बसे मिलते थे तो कहीं ये घूम-घूम कर इस काम को करते थे।

* गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली से प्रकाशित अनुपम मिश्र जी की पुस्तक *आज भी खरे हैं तालाब* से साभार।

गजधर एक सुन्दर शब्द है, तालाब बनाने वालों को आदर के साथ याद करने के लिए। राजस्थान के कुछ भागों में यह शब्द आज भी बाकी है। गजधर यानी जो गज को धारण करता है। और गज वही जो नापने के काम आता है। लेकिन फिर भी समाज ने इन्हें तीन हाथ की लोहे की छड़ लेकर घूमने वाला मिस्त्री नहीं माना। गजधर जो समाज की गहराई को नाप लेउसे ऐसा दर्जा दिया गया है।

गजधर वास्तुकार थे। गाँव-समाज हो या नगर-समाज उसके नव निर्माण की, रख-रखाव की जिम्मेदारी गजधर निभाते थे। नगर नियोजन से लेकर छोटे से छोटे निर्माण के काम गजधर के कंधों पर टिके थे। वे योजना बनाते थे, कुल काम की लागत निकालते थे, काम में लगने वाली सारी सामग्री जुटाते थे और इस सबके बदले वे अपने जजमान से ऐसा कुछ नहीं माँग बैठते थे, जो वे दे न पाएँ। लोग भी ऐसे थे कि उनसे जो कुछ बनता, वे गजधर को भेंट कर देते।

काम पूरा होने पर पारिश्रमिक के अलावा गजधर को सम्मान भी मिलता था। सरोपा भेंट करना अब शायद सिर्फ सिख परम्परा में ही बचा है पर अभी कुछ ही पहले तक राजस्थान में गजधर को गृहस्थ कीर की ओर से बड़े आदर के साथ सरोपा भेंट किया जाता रहा है। पगड़ी बाँधने के अलावा चाँदी और कभी-कभी सोने के बटन भी भेंट दिए जाते थे। जमीन भी उनके नाम की जाती थी। पगड़ी पहनाए जाने के बाद गजधर अपने साथ काम करने वाली टोली के कुछ और लोगों का नाम बताते थे, उन्हें भी पारिश्रमिक के अलावा यथाशक्ति कुछ न कुछ भेंट दी जाती थी। कृतज्ञता का यह भाव तालाब बनने के बाद होने वाले भोज में विशेष रूप से देखने में आता था।

गजधर हिंदू थे और बाद में मुसलमान भी। सिलावट या सिलावटा नामक एक जाति वास्तुकला में बहुत निष्णात हुई है। सिलावटा शब्द शिला यानी पत्थर से बना है। सिलावटा भी गजधरों की तरह दोनों धर्मों में थे। आबादी के अनुपात में उनकी संख्या काफी थी। इनके अपने मोहल्ले थे। आज भी राजस्थान के पुराने शहरों में सिलावटपाड़ा मिल जाएँगे। सिंध क्षेत्र में, कराची में भी सिलावटों का भरा-पूरा मोहल्ला है। गजधर और सिलावटाएक ही काम को करने वाले ये दो नाम कहीं-कहीं एक ही हो जाते थे। जैसलमेर और सिंध में सिलावटों के नायक ही गजधर कहलाते थे। कराची में भी इन्हें सम्मान से देखा जाता था। बँटवारे के बाद पाकिस्तान मंत्रिमंडल में भी एक सिलावटहाकिम मोहम्मद गजधर की नियुक्ति हुई थी।

इनकी एक धारा तोमर वंश तक जाती थी और समाज के निर्माण के सबसे ऊँचे पद को भी छूती रही है। अनंगपाल तंवर ने भी कभी दिल्ली पर झंडा लहराया था।

अभ्यस्त आँखों का सुंदर उदाहरण थे गजधर। गुरु-शिष्य परम्परा से काम सिखाया जाता था। नए हाथ को पुराना हाथ इतना सिखाता, इतना उठाता कि वह कुछ समय बाद 'जोड़िया' बन जाता। जोड़िया यानी गजधर का विश्वसनीय साथी।

एक गजधर के साथ कई जोड़िया होते थे। कुछ अच्छे जोड़ियों वाले गजधर स्वयं इतने ऊपर उठ जाते थे कि बस फिर उनका नाम ही गजधर रह जाता, पर गज उनका छूट जाता। अच्छे गजधर की एक परिभाषा यही थी कि वे औजारों को हाथ नहीं लगाते। सिर्फ जगह देखकर निर्णय लेते कि कहाँ क्या करना है। वे एक जगह बैठ जाते और सारा काम उनके मौखिक निर्देश पर चलता रहता।

औजारों का उपयोग करते-करते इतना ऊपर उठना कि फिर उनकी जरूरत ही नहीं रहे यह एक बात है। पर कभी औजारों को हाथ ही नहीं लगाना यह दूसरी बात है। ऐसे सिद्ध सिरभाव कहलाते थे। सिरभाव किसी भी औजार के बिना पानी की ठीक जगह बताते थे। कहते हैं भाव आता था उन्हें, यानी बस पता चल जाता था। सिरभाव कोई जाति विशेष से नहीं होते थे। बस किसी-किसी को यह सिद्धि मिल जाती थी। जलसूधा यानी भूजल को 'सूघ' कर बनाने वाले लोग भी सिरभाव जैसे होते थे पर वे भूजल की तरंगों के संकेत को आम या जामुन की लकड़ी की सहायता से पकड़कर पानी का पता बताते थे। यह काम आज भी जारी है। ट्यूबवैल खोदने वाली कंपनियाँ पहले अपने यंत्र से जगह चुनती हैं फिर इन्हें बुलाकर और पक्का कर लेती हैं कि पानी मिलेगा या नहीं। सरकारी क्षेत्रों में भी बिना कागज पर दिखाए इनकी सेवाएँ ले ली जाती हैं।

सिलावटा शब्द मध्य प्रदेश तक जाते-जाते एक मात्रा खोकर सिलावट बन जाता है पर गुण ज्यों के त्यों रहते हैं। कहीं-कहीं मध्य-देश में सिलाकार भी थे। गुजरात में भी इनकी अच्छी आबादी है। वहाँ ये सलाट कहलाते हैं। इनमें हीरा सलाट पत्थर पर अपने काम के कारण बहुत ही प्रसिद्ध हुए हैं।

कच्छ में गजधर गईर हो गए हैं। उनका वंशवृक्ष इन्द्र देवता के पुत्र जयंत से प्रारम्भ होता है। गजधरों का एक नाम सूत्रधार भी रहा है। यही बाद में, गुजरात में ठार और देश के कई भागों में सुथार हो गया।

गजधरों का एक शास्त्रीय नाम स्थपति भी था, जो थवई की तरह आज भी प्रचलित है।

पथरोट और टकारी भी पत्थर पर होने वाले सभी कामों के अच्छे जानकार थे और तालाब बनाने के काम में भी लगते थे। मध्य प्रदेश में पथरोटा नाम के गाँव और मोहल्ले आज भी इनकी याद दिलाते हैं। टकारी दूर दक्षिण तक फैले थे और इनके मोहल्ले टकेरवाड़ी कहलाते थे।

संसार है माटी का और इस माटी का पूरा संसार जानने वालों की कमी नहीं थी। ये मटकूट थे तो कहीं मटकूड़ा और जहाँ ये बसते थे, वे गाँव मटकूली कहलाते थे। सोनकर और सुनकर शब्द सोने का काम करने वालों के लिए थे। पर यह सोना, नहीं, मिट्टी ही था। सोनकर या सुनकर राजलहरिया भी कहलाते थे। ये अपने को रघुवंश के सम्राट सगर के बेटों से जोड़ते थे। अश्वमेध यज्ञ के लिए छोड़े गए घोड़े की

चोरी हो जाने पर सगर-पुत्रों ने उसको ढूँढ़ निकालने के लिए सारी पृथ्वी खोद डाली थी और अन्त में कपिल मुनि के क्रोध के पात्र बन बैठे थे। उसी शाप के कारण सोनकर तालाबों में मिट्टी खोदने का काम करते थे, पर अब क्रोध नहीं, पुण्य कमाते थे। ये ईंट बनाने के काम में भी बहुत कुशल रहे हैं। खंती भी तालाब में मिट्टी काटने के काम में बुलाए जाते थे। जहाँ ये किसी वजह से न हों, वहाँ कुम्हार से तालाब की मिट्टी के बारे में सलाह ली जाती थी।

तालाब की जगह का चुनाव करते समय बुलई बिना बुलाए आते थे। बुलई यानी वे जिन्हें गाँव की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी। कहाँ कैसी जमीन है, किसकी है, पहले कहाँ-कहाँ तालाब, बावड़ी आदि बन चुके हैं, कहाँ और बन सकते हैं—ऐसी सब जानकारियाँ बुलई को कंठस्थ रहती थीं, फिर भी उसके पास इस सबका बारीक हिसाब-किताब लिखा भी मिलता था।

मालवा के इलाकों में बुलई की मदद से ही यह सब जानकारी रकबे में बाकायदा दर्ज की जाती थी। और यह रकबा हरेक जमींदारी में सुरक्षित रहता था।

बुलई कहीं ढेर भी कहलाते थे। और इसी तरह मिर्धा थे, जो जमीन की नाप-जोख, हिसाब-किताब और जमीन के झगड़ों का निपटारा भी करते थे।

ईंट और चूने के गारे का काम चुनकर करते थे। बचे समय में नमक का भी व्यापार इन्हीं के हाथ होता था। आज के मध्य प्रदेश में सन् 1911 में चुनकरों की आबादी 25,000 से ऊपर थी। उधर उड़ीसा में लुनिया, मुहा और सांसिया थे। अंग्रेज के समय सांसियों को अपराधी जाति बताकर पूरी तरह तोड़ दिया गया था।

नए लोग जैसे तालाबों को भूलते गए, वैसे ही उनको बनाने वालों को भी। भूले-बिसरे लोगों की सूची में लडिया, दुसाध, नौनिया, गोंड, परधान, कोल, डीमर, दींवर, भोई भी आते हैं। एक समय था जब ये तालाब के अच्छे जानकार माने जाते थे। आज इनकी उस भूमिका को समझने के विवरण भी हम खो बैठे हैं।

कोरी या कोली जाति ने भी तालाबों का बड़ा काम किया था। सैकड़ों तालाब बनाने वाले कोरियों के बारे में आज ठीक ढंग की जानकारी देने वाली एक पंक्ति भी नहीं मिल पाती। लेकिन एक समय था जब बहुत से क्षेत्र कोली जाति के सदस्यों को अपने यहाँ बसाने के लिए कई तरह की सुविधाएँ जुटाते थे। महाराष्ट्र, गुजरात के अनेक गाँवों में उन्हें जो जमीन दी जाती थी, उसका लगान माफ कर दिया जाता था। ऐसी जमीन बारा या वारो कहलाती थी।

सचमुच लौह पुरुष थे अगरिया। यह जाति लोहे के काम के कारण जानी जाती थी। पर कहीं-कहीं अगरिया तालाब भी बनाते थे। तालाब खोदने के औजारगेंती, फावड़ा, बेल, मेटाक, तसले या तगाड़ी बनाने वाले लोग उन औजारों को चलाने में भी किसी से पीछे नहीं थे। बेल से ही बेलदार शब्द बना है।

माली समाज और इस काम में लगी परिहार जाति का भी तालाब बनाने में, तालाब बनने पर उसमें कमल, कुमुदिनी लगाने में योगदान रहता था। कहीं-कहीं तालाब के किनारे की कुछ जमीन केवल माली परिवारों के लिए सुरक्षित रखी जाती थी। उनका जीवन तालाब से चलता था और जीवन-भर वे तालाब की रखवाली करते थे।

भील, भिलाले, सहरिया, कोल आज अपना सब कुछ खोकर जनजाति की अनुसूचित सूची में शामिल कर दिए गए हैं पर एक समय में इनके छोटे-बड़े राज थे। इन राज्यों में ये पानी की, तालाबों की पूरी व्यवस्था खुद संभालते थे। बहती नदी का पानी कहीं रोक कर कैसा बंधान बाँधना है और फिर उस बंधान का पानी कितनी दूर तक सींचने ले जाना है यह कौशल भील तीर-धनुष की तरह अपने कंधे पर ही रखते थे। इस तरह बाँधे गए बंधानों और तालाबों के पानी के दबाव की भी उन्हें खूब परख रहती। दबाव कितना है और कितनी दूरी के कुओं को वह हरा कर देगा, यह भेद वे अपने तीर से रेखा खींचकर बता सकते थे।

राजस्थान में यह काम मीणा करते थे। अलवर जिले में एक छोटी-सी नई संस्था 'तरुण भारत संघ' ने पिछले 20 वर्षों में 7500 से अधिक तालाब बनाए हैं। उसे हर गाँव में यही लगा कि पूरा गाँव तालाब बनाना जानता है। कठिन से कठिन मामलों में संस्था को बाहर से कोई सलाह नहीं लेनी पड़ी क्योंकि भीतर तो मीणा थे जो पीढ़ियों से यहाँ तालाब बनाते रहे हैं।

भीलों में कई भेद थे। नायक, नायका, चोलीवाला नायक, कापड़िया नायक, बड़ा नायक, छोटा नायक और फिर तलाविया, गरासियासब तालाब और पानी के काम के नायक माने जाते थे।

नायक या महाराष्ट्र कोंकण में नाईक उपाधि, बंजारा समाज में भी थी। वन में विचरने वाले बनचर, बिनचर धीरे-धीरे बंजारे कहलाने लगे। ये आज दयनीय बना दिए गए हैं, पर एक समय ये एक शहर से दूसरे शहर सैकड़ों पशुओं पर माल लादकर व्यापार करने निकलते थे। गन्ने के क्षेत्र से धान के क्षेत्र में गुड़ ले जाते और फिर धान लाकर दूसरे क्षेत्रों में बेचते थे।

शहजहाँ के वजीर आसफजहाँ जब सन् 1630 में दक्खन आए थे तो उनकी फौज का सामान भंगी-जंगी नाम के नायक बंजारों के बैलों पर लदा था। बैलों की संख्या थी एक लाख अस्सी हजार। भंगी-जंगी के बिना शाही फौज हिल नहीं सकती थी। उनकी प्रशंसा में वजीर आसफजहाँ ने उन्हें सोने से लिखा एक ताम्रपत्र भेंट किया था।

वर्णनों में कुछ अतिशयोक्ति होगी पर इनके कारवाँ में पशु इतने होते कि गिनना कठिन हो जाता था। तब इसे एक लाख पशुओं का कारवाँ मान लिया जाता था और ऐसी टोली का नायक लाख बंजारा कहलाता था। हजारों पशुओं के इस

कारवाँ को सैकड़ों लोग लेकर चलते थे। इसके एक दिन के पड़ाव पर पानी की कितनी माँग होती, इसका अंदाज लगाया जा सकता है। जहाँ ये जाते, वहाँ अगर पहले से बना तालाब नहीं होता तो फिर वहाँ तालाब बनाना वे अपना कर्तव्य मानते। मध्य प्रदेश के सागर नाम की जगह में बना सुन्दर और बड़ा तालाब ऐसे ही किसी लाख बंजारे ने बनाया था। छत्तीसगढ़ में आज भी कई गाँवों में लोग अपने तालाब को किसी लाख बंजारे से जोड़कर याद करते हैं। इन अज्ञात लाख बंजारों के हाथों से बने ज्ञात तालाबों की सूची में कई प्रदेशों के नाम समा जाएँगे।

गोंड समाज का तालाबों से गहरा सम्बन्ध रहा है। महाकौशल में गोंड का यह गुण जगह-जगह तालाबों के रूप में बिखरा मिलेगा। जबलपुर के पास कूड़न द्वारा बनाया गया ताल आज कोई एक हजार बरस बाद भी काम दे रहा है। इसी समाज में रानी दुर्गावती हुईं, जिनने अपने छोटे से काल में एक बड़े भाग को तालाबों से भर दिया था।

गोंड न सिर्फ खुद तालाब बनाते-बनवाते थे, बल्कि तालाब बनाने वाले दूसरे लोगों का भी खूब सम्मान करते थे। गोंड राजाओं ने उत्तर भारत से कोहली समाज के लोगों को आज के महाराष्ट्र के भंडारा जिले में उत्साह के साथ लाकर बसाया था। भंडारा में भी इसी कारण बहुत अच्छे तालाब मिलते हैं।

बड़े तालाबों की गिनती में सबसे पहले आने वाला प्रसिद्ध भोपाल ताल बनवाया तो राजा भोज ने था पर इसकी योजना भी कालिया नामक एक गोंड सरदार की मदद से ही पूरी हो सकी थी। भोपाल-होशंगावाद के बीच की घाटी में बहने वाली कालिया सोत नदी इन्हीं गोंड सरदार के नाम से याद की जाती है।

ओढ़िया, ओढ़िही, ओरही, ओड़, ओड़जैसे-जैसे जगह बदली, वैसे-वैसे इनका नाम बदलता था पर काम एक ही था, दिन-रात तालाब और कुएँ बनाना। इतने कि गिनना संभव न बचे। ऐसे लोगों के लिए ही कहावत बनी थी कि ओड़ हर रोज नए कुएँ से पानी पीते हैं। बनाने वाले और बनने वाली चीज के एकाकार होने का इससे अच्छा उदाहरण शायद ही मिले क्योंकि कुएँ का एक नाम ओड़ भी है। ये पश्चिम में ठेठ गुजरात से राजस्थान, उत्तर प्रदेश, विशेषकर बुलंदशहर और उसके आसपास के क्षेत्र, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उड़ीसा तक फैले थे। इनकी संख्या भी काफी रही होगी। उड़ीसा में कभी कोई संकट आने पर नौ लाख ओढ़ियों के धार नगरी में पहुँचने की कहानी मिलती है। ये गंधे पालते थे। कहीं ये गंधों से मिट्टी ढोकर केवल पाल बनाते थे, तो कहीं तालाब की मिट्टी काटते थे। प्रायः स्त्री-पुरुष एक साथ काम करते थे। ओढ़ी मिट्टी के अच्छे जानकर होते थे। मिट्टी के रंग और मिट्टी की गंध से स्वभाव पढ़ लेते थे। मिट्टी की सतह और दबाव भी खूब पहचानते थे। राजस्थान में तो आज भी कहावत है कि ओढ़ी कभी दबकर नहीं मरते।

प्रसिद्ध लोकनायिका जसमा ओढ़न धार नगरी के ऐसे ही एक तालाब पर काम कर रही थी, जब राजा भोज ने उसे देख अपना राज-पाट तक छोड़ने का फैसला ले लिया था। राजा ने जसमा को सोने से बनी एक अप्सरा की तरह देखा था। पर ओढ़ी परिवार में जन्मी जसमा अपने को, अपने शरीर को तो क्या संसार तक को मिट्टी मानने वाली परम्परा का हिस्सा थी। किस्सा बताता है कि राजा जसमा को पाने के लिए कुछ भी करने को तैयार था, अपने कर्तव्य को छोड़कर जो नहीं करने लायक था, वह भी करने लगा था। जसमा ऐसे राजा की रानी बनने से पहले मृत्यु का वरण करना तय करती है। राजा का नाम मिट गया पर जसमा ओढ़न का जस आज भी उड़ीसा से लेकर छत्तीसगढ़, महाकौशल, मालवा, राजस्थान और गुजरात में फैला हुआ है। सैकड़ों बरस बीत गए हैं, इन हिस्सों में फसल कटने के बाद आज भी रात-रात भर जसमा ओढ़न के गीत गाए जाते हैं, नौटकी खेली जाती है। भवई के मंचों से लेकर भारत भवन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तक में जसमा के चरण पड़े हैं।

जसमा ओढ़न का यश तो लोगों के मन में बाकी रहा पर ओढ़ियों का तालाब और कुएँ वाला यश नए लोगों ने भुला दिया है। जो सचमुच राष्ट्र निर्माता थे, उन्हें अनिश्चित रोजी-रोटी की तलाश में भटकने के लिए मजबूर कर दिया गया है। कई ओढ़ी आज भी वही काम करते हैं इंदिरा नहर को बनाने में हजारों ओढ़ी लगे थे पर जस चला गया उनका।

उड़ीसा में ओढ़ियों के अलावा, सोनपुरा और महापात्रे भी तालाब और कुएँ के निर्माता रहे हैं। ये गंजाम, पुरी, कोणार्क और आसपास के क्षेत्रों में फैले थे। सोनपुरा बालंगीर जिले के सोनपुर गाँव से निकले लोग थे। एक तरफ ये मध्य प्रदेश जाते थे तो दूसरी तरफ नीचे आंध्र तक। खरिया जाति रामगढ़, बिलासपुर और सरगुजा के आसपास तालाब, छोटे बांध और नहरों का काम करते थे। 1971 की जनगणना में इनकी संख्या 23 हजार थी।

बिहार में मुसहर, बिहार से जुड़े उत्तर प्रदेश के हिस्सों में लुनिया, मध्य प्रदेश में नौनिया, दुसाध और कोल जाति भी तालाब बनाने में मग्न रहती थी। मुसहर, लुनिया और नौनिया तब आज जैसे लाचार नहीं थे। 18वीं सदी तक मुसहरों को तालब पूरा होने पर उचित पारिश्रमिक के साथ-साथ जमीन भी दी जाती थी। नौनिया, लुनिया की तालाब बनने पर पूजा होती थी। मिट्टी के पारखी मुसहर का समाज में अपना स्थान था। चोहरमल उनके एक शक्तिशाली नेता थे किसी समय। श्री सलेस (शैलेष) दुसाध के पूज्य थे। इनके गीत जगह-जगह गाए जाते हैं और इन्हें दूसरे लोग भी इज्जत देते हैं। दुसाध जब श्री सलेस के यज्ञ करते हैं तो अन्य जातियों के लोग भी उसमें भाग लेते हैं।

इन्हीं इलाकों में बसी थी डांढी नामक एक जाति। यह कठिन और मेहनती काम करने के लिए प्रसिद्ध थी और इस सूची में तालाब और कुआँ तो शामिल था ही।

बिहार में आज भी किसी कठिन काम का ठीक हल न सूझे तो कह देते हैं, “डांढी लगा दो।” डांढी बहुत ही सुन्दर मजबूत काठी की जाति थी। इस जाति के सुडौल, गठीले शरीर मछली (मांसपेशी) गिनने का न्यौता देते थे।

आज के बिहार और बंगाल में बसे संथाल भी सुन्दर तालाब बनाते थे। संथाल परगने में बहुत कुछ मिट जाने के बाद भी कई आहर यानी तालाब, संथालों की कुशलता की याद दिलाने के लिए खड़े हैं।

महाराष्ट्र के नासिक क्षेत्र में कोहलियों के हाथों इतने बंधान और तालाब बने थे कि इस हिस्से पर अकाल की छाया नहीं पड़ती थी। समुद्र तटवर्ती गोआ और कोंकण प्रदेश घनघोर वर्षा के क्षेत्र हैं। पर यहाँ वर्षा का मीठा पानी देखते ही देखते खारी पानी के विशाल समुद्र में मिल जाता है। यह गावड़ी जाति की ही कुशलता थी कि पश्चिम घाट की पहाड़ियों पर ऊपर से नीचे तक कई तालाबों में वर्षा का पानी वर्ष भर रोककर रखा जाता था। यहाँ और इससे ही जुड़े कर्नाटक के उत्तरी कन्नड़ क्षेत्र में चीरे नामक पत्थर मिलता है। तेज बरसात और बहाव को इसी पत्थर के सहारे बाँधा जाता है। चीरे पत्थर को खानों से निकालकर एक मानक आकार में तराशा जाता रहा है। इस आकार में रत्ती भर परिवर्तन नहीं आया है।

इतना व्यवस्थित काम बिना किसी व्यवस्थित ढाँचे के नहीं हो सकता था। बुद्धि और संगठन का एक ठीक तालमेल खड़ा किए बिना देश में इतने सारे तालाब न तो बन सकते थे, न टिक ही सकते थे। यह संगठन कितना चुस्त, दुरुस्त रहा होगा, इस प्रश्न का उत्तर दक्षिण की एक झलक से मिलता है।

दक्षिण में सिंचाई के लिए बनने वाले तालाब एरी कहलाते हैं। गाँव-गाँव में एरी थीं और उपेक्षा के 200 बरसों के इस दौर के बावजूद इनमें से हजारों एरियाँ आज भी सेवा कर रही हैं। गाँव में पंचायत के भीतर ही एक और संस्था होती थी : एरी वार्यम्। एरी वार्यम् में गाँव के छह सदस्यों की एक वर्ष के लिए नियुक्ति होती थी। एरी से सम्बन्धित हरेक काम एरी बनाना, उसका रखरखाव, सिंचाई की उचित और निष्पक्ष व्यवस्था और इन सब कामों के लिए सतत् साधन जुटाना वार्यम् के जिम्मे होता था। वार्यम् के छह सदस्य इन कामों को ठीक से नहीं कर पाएँ तो उन्हें नियुक्ति की अवधि से पहले भी हटाया जा सकता था।

यहाँ एरी बनाने का काम वोद्दार करते थे। सिंचाई की पूरी व्यवस्था के लिए एक पद होता था। इसे अलग-अलग क्षेत्र में नीरघंटी, नीरगंटी नीरआनी, कंबककट्टी और माइयन थोट्टी के नाम से जाना जाता था। तालाब में कितना पानी है, कितने खेतों में सिंचाई होनी है, पानी का कैसा बँटवारा करना है ये सारे काम नीरघंटी करते थे। नीरघंटी का पद अनेक क्षेत्रों में सिर्फ हरिजन को ही दिया जाता था और सिंचाई के मामले में उनका निर्णय सर्वोपरि रहता था। किसान कितना भी बड़ा क्यों न हो, इस मामले में नीरघंटी से छोटा ही माना जाता था।

एक तरफ दक्षिण में नीरघंटी जैसे हरिजन थे तो पश्चिम में पालीवाल जैसे ब्राह्मण भी थे। जैसलमेर, जोधपुर के पास दसवीं सदी में पल्ली नगर में बसने के कारण ये पल्लीवाल या पालीवाल कहलाए। इन ब्राह्मणों को मरुभूमि में बरसने वाले थोड़े-से पानी को पूरी तरह से रोक लेने का अच्छा कौशल सध गया था। वे खडीन के अच्छे निर्माता थे। मरुभूमि का कोई ऐसा बड़ा टुकड़ा जहाँ पानी बहकर आता हो, वहाँ दो या तीन तरफ से मेंडबंदी कर पानी रोककर विशिष्ट ढंग से तैयार बांधनुमा खेत को खडीन कहा जाता है। खडीन खेत बाद में है, पहले तो तालाब ही है। मरुभूमि में सैकड़ों मन अनाज इन्हीं खडीनों में पैदा किया जाता रहा है। आज भी जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर क्षेत्र में सौकड़ों खडीन खड़ी हैं।

लेकिन पानी के काम के अलावा स्वाभिमान भी क्या होता है, इसे पालीवाल ही जानते थे। जैसलमेर में न जाने कितने गाँव पालीवालों के थे। राजा से किसी समय विवाद हुआ। बस, रातों-रात पालीवालों के गाँव खाली हो गए। एक से एक कीमती सुन्दर घर, कुएँ, खडीन सब छोड़कर पालीवाल राज्य से बाहर हो गए। आज उनके वीराना गाँव और घर जैसलमेर में पर्यटक को गाइड बड़े गर्व से दिखाते हैं। पालीवाल वहाँ से निकलकर कहाँ-कहाँ गए, इसका ठीक अंदाज नहीं है पर एक मुख्य धारा आगरा और जौनपुर में जा बसी थी।

महाराष्ट्र में चितपावन ब्राह्मण भी तालाब बनाने से जुड़े थे। कुछ दूसरे ब्राह्मणों को यह ठीक नहीं लगा कि ब्राह्मण मिट्टी खोदने और ढोने के काम में लगे। कथा है वासुदेव चित्तले नामक चितपावन ब्राह्मण की। वासुदेव ने कई तालाब, बावड़ी और कुएँ बनाए थे। जब से परशुराम क्षेत्र में एक बड़ा सरोवर बना रहे थे और उनके कारण अनेक ब्राह्मण भी मिट्टी खोद रहे थे तो देवरुख नामक स्थान से आए ब्राह्मणों के एक समूह ने उनका विरोध किया। तब वासुदेव ने उन्हें शाप दिया कि जो भी ब्राह्मण तुम्हारा साथ देंगे वे तेजहीन होकर लोगों की निंदा के पात्र बनेंगे। उस चितपावन के शाप से बाद में ये लोग देवरुख ब्राह्मण कहलाए। देवरुख ब्राह्मण तेजहीन हुए कि नहीं, लोक निंद्य बने कि नहीं, पता नहीं। लेकिन चितपावन ब्राह्मण अपने क्षेत्र में और देश में भी हर मामले में अपनी विशेष पहचान बनाए रहे हैं।

कहा जाता है कि पुष्करणा ब्राह्मणों को भी तालाब ने ही उस समय समाज में ब्राह्मण का दर्जा दिलाया था। जैसलमेर के पास पोकरन में रहने वाला यह समूह तालाब बनाने का काम करता था। उन्हें प्रसिद्ध तीर्थ पुष्करजी के तालाब को बनाने का काम सौंपा गया था। रेत से घिरे बहुत कठिन क्षेत्र में इन लोगों ने दिन रात एक करके सुंदर तालाब बनाया। जब वह भरा तो प्रसन्न होकर इन्हें ब्राह्मण का दर्जा दिया गया। पुष्करणा ब्राह्मणों के यहाँ कुदाल रुपी मूर्ति की पूजा की जाती रही है।

अपने पूरे शरीर पर राम नाम का गुदना गुदवाने और राम-नाम की चादर ओढ़ने वाले छत्तीसगढ़ के रामनामी तालाबों के अच्छे जानकार थे। मिट्टी का काम राम का

ही नाम था इनके लिए। रायपुर, बिलासपुर और रायगढ़ जिलों में फैले इस संप्रदाय के लोग छत्तीसगढ़ क्षेत्र में घूम-घूम कर तालाब खोदते रहे हैं। सम्भवतः इस घूमने के कारण ही इन्हें बंजारा भी मान लिया गया था। छत्तीसगढ़ में कई गाँवों में लोग यह कहते हुए मिल जाएँगे कि उनका तालाब बंजारों ने बनाया था। रामनामी परिवारों में हिंदू होते हुए भी अंतिम संस्कार में अग्नि नहीं दी जाती थी, मिट्टी में दफनाया जाता था क्योंकि उनके लिए मिट्टी से बड़ा और कुछ नहीं। जीवन-भर राम का नाम लेकर तालाब का, मिट्टी का काम करने वाले के लिए जीवन के पूर्ण विराम की इससे पवित्र और कौन-सी रीति होगी?

आज ये सब नाम अनाम हो गए हैं। उनके नामों का स्मरण करने की यह नाम-माला, गजधर से लेकर रामनामी तक की नाम-माला अधूरी ही है। सब जगह तालाब बनते थे और सब जगह उन्हें बनाने वाले लोग थे।

सैकड़ों, हज़ारों तालाब शून्य में से प्रकट नहीं हुए थे। लेकिन उन्हें बनाने वाले लोग आज शून्य बना दिए गए हैं।

कह जड़ जनक धनुष केहि तोरा

शोभाकान्त झा*

धनुष यज्ञ का बड़ा नाटकीय प्रसंग है। बड़ी तबियत से इस प्रसंग को गिरा-अर्थ में सिद्धि प्राप्त तुलसी ने वाणी दी। इसमें नाटकीयता के अनेक तत्त्वों के समाहार के साथ विचारों का कौतुहलमय मनुहार है। कौतुहल के साथ जिज्ञासा होती है, कि जो जनक ज्ञान की सीमा थे, देह रहते हुए भी विदेह थे, उनके लिए परशुराम जैसे अवतारी शास्त्रज्ञ ने जड़ विशेषण का प्रयोग क्यों किया? तुलसी जैसे सचेत कवि ने इसका प्रयोग क्यों किया? जबकि आदि कवि ने ऐसा प्रयोग कहीं नहीं किया। तुलसी ने वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक विस्तार से संदर्भ को वर्णार्थ संघ का विषय क्यों बनाया है?

इन सारे उपर्युक्त क्यों के अनेक उत्तर दिए-खोजे जा सकते हैं, क्योंकि तर्क का विस्तार अपार है। तर्क मति की महिमा का पार कौन पा सकता है? अपनी यत्किंचित् मति तो यही कहती है कि भले ही क्रोधवश परशुराम के मुख से 'जड़' शब्द फूट पड़ा हो, किंतु उस स्फोट से बहुत सारे अर्थ स्फुटित होते हैं। तुलसी के विवेकी कवि का यह सचेत और साभिप्राय प्रयोग है। कितना भी ज्ञानी-ध्यानी हो, यदि वह व्यवहार अकुशल या शून्य होता हो, तो वह जड़ता के अभियोग से बच नहीं सकता। कहा भी गया है कि शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख होते हैं। क्रियावान ही बुद्धिमान कहलाते हैं

शास्त्राण्यधित्यापि भवन्ति मूर्खाः
यस्तु क्रियावान स एव विद्वान्।

क्रियाहीन विद्वता या ज्ञान असफल व अयशकारी होता है। विवाह की शर्त के रूप में धनुष भंजन की शर्त रखा जाना जनक के ज्ञान की अव्यावहारिकता का ही परिचायक है। मान लीजिए किसी दुष्ट बलवान से वह टूट जाता, तो सीता का क्या भला होता? क्या पिता कन्या के अनुरूप वर पा जाता? क्योंकि बल प्रायः दुष्टों के पास अधिक होता है। रावण ने तो भुजा बल से ही त्रैलोक्य को दबा रखा

* सम्पादक, लोकमंगल, कुशालपुर, रायपुर-492001

था“निज भुज बल मैं बैर बढ़ावा।” ऋषि-मुनियों तक को पीड़ित-प्रताड़ित कर रखा था। धनुष बल और दर्प का ही प्रतीक था। राम ने दुष्ट बल को दलने के लिए ही धनुष बाण धारण किया था, फिर धनुष भंजन को ही प्रण के रूप में रखकर जनक ने कदाचित् बुद्धिमानों का काम नहीं किया था। जिस धनुष के द्वारा बलाभिमानीयों का मान मर्दन करके परशुराम भी शान्त हो गए थे। शास्त्र को समर्पित कर चुके थे, उसे तोड़वाने के लिए फिर से बलाभिमानीयों को न्यौता देना क्या जनक का सयानापन सूचित करता है? क्या उन्हें परशुराम के क्रोध का पता नहीं था? इतिहास के गड़े मुर्दे को उखाड़ कर फिर से जंग को जगाना यह संवाद के बजाए विवाद को बढ़ाना है आधुनिक नेताओं की तरह सत्ता पर काबिज रहने के लिए शांतिर कुछ भी कर सकता है। राज-समाज को दौंव पर चढ़ा सकता है, परन्तु जनक जैसे सत्ता निर्मोही को यह शोभा नहीं देता कि फिर से सामाजिक अशान्ति का बीज बोया जाए। दुष्ट ताकतवर राजा धनुष टूट जाने के बाद राम को घेर लेते हैं और मिलकर बलपूर्वक सीता का अपहरण करना चाहते हैं

तब सिय देखि भूप अभिलाशे। क्रूर कपूत मूढ मन माखे ॥
लेहु छुड़ाई सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ ॥
तोरे धनुष, चाड़ नहि सरई। जीवत हमहि कुँअरि को बरई ॥

वाल्मीकि रामायण में भी जनक स्वयं विश्वामित्र को बताते हुए कहते हैं कि जब राजा लोग धनुष तोड़ना तो दूर उसे हिला-डुला भी नहीं सके तब उन्होंने अपना अपमान समझकर सीता को छीनना चाहा। मिथिला को घेर लिया। मुझे उनसे साल भर लड़ना पड़ा। मुझे बड़ा दुःख हुआ। देवता ने सहायता की, तब जाकर मैंने उन्हें मार भगाया

ततः परम कोपेन राजानो मुनि पुङ्गवः।
अरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्य सदेहमागताः ॥
आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः।
रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम् ॥
ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वे ऽः।
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ॥

बालकांड, सर्ग, 63-20, 21, 22

है न विवाह जैसे मांगलिक अवसर को अमंगल के घेरे में डालना। धनुष टूटा व तना होता ही है। अहंकार प्रतीक धनुष को तोड़ने के लिए अहंकारियों को ही तो आहूत करना हुआ। जहाँ अहंकारी बलशाली राजमद से माते राजा धनुष तोड़ने के लिए एकत्रित होंगे वहाँ क्या बधाई के बाजे बजेंगे कि युद्ध के नगाड़े? द्रौपदी स्वयंवर में भी ऐसा ही घटा था। द्रुपद तो धन मद माते राजा थे। द्रौपदी का जन्म ही वैर

शोध के हवन कुंड से हुआ था। वह थी भी गर्म मिजाज की, परन्तु सीता तो शीतल थी। शान्त, मृदु स्नेहमयी प्रजावत्सला। उस धोबी के लिए भी उनके मन में तनिक भी कुसोच नहीं, जिसके कुवाणी के कारण सीता को पाताल में प्रवेश करना पड़ा। सदा-सदा के लिए राम का संग छूट गया। वे लक्ष्मण से कहती हैं मेरा जन्म ही दुःख सहन करने के लिए हुआ है। श्रीराम से कहना कि वे पुरवासियों के साथ वैसा ही वर्ताव करें जैसा वे अपने भाइयों के साथ करते हैं

*मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण ।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्तिः प्रहश्यते ॥
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मिण सुसमाहितः ।
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरषु नित्यदा ॥
वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड, सर्ग 48-3, 4*

ऐसी सीता बेटी के लिए धनुष यज्ञ का अनुष्ठान बुद्धिमत्ता का काम कम, राजत्व का ज्यादा लगता है, इसलिए गुस्से में ही सही, परशुराम जी के मुख से निकला 'जड़' विशेषण सामयिक दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता।

सयाने होकर भी जो कोई अनुचित काम कर बैठता है तो लोग कहने से नहीं चूकते 'आप तो पढ़े-लिखे है। समझदार हैं, सयाने हैं फिर ऐसा काम क्यों कर डाला'? कितना भी कोई धर्मराज क्यों न हो, द्रौपदी को यदि वह दाव पर चढ़ाता है तो उसकी जड़ता ही तो प्रकट होती है। और तो और जिस सभा में भीष्म-द्रोण जैसे लोग उपस्थित हों और कुलवधु की लाज लुट रही हो तो वहाँ उपस्थित गुरुजन जड़ता के दोष से कैसे बच सकते हैं? दरअसल हर व्यक्ति के भीतर गुण-दोष होते हैं। अहंकार, जड़ता, क्रोध, लोभ, मोह जैसे दुर्गुण ज्ञान व साधना के प्रभाव से कम या तलशायी जरूर हो जाते हैं, परन्तु पूरी तरह मरते नहीं। मौका पाकर चट प्रकट हो जाते हैं। जनक की जड़ताई भी प्रकट हो गई थीसंत के क्रोध की तरह।

राम-सीता की लुनाई, कोमलता और धनुष की कठोरता को देखकर परशुराम के आवेश में निकले 'जड़' विशेषण को कमोवेश जनकपुरवासी भी एक प्रकार से उपयुक्त ठहराते हैं। वे विधि से प्रार्थना करते हैं कि वह जनक की जड़ताई को हर ले और हम लोगों की जैसी सुमति दे दे ताकि धनुष बिना तोड़े वे राम के संग सीता का ब्याह रचा दें

*हरु विधि बेगि जनक जड़ताई ।
मति हमारि असि देहि सुहाई ॥
बिनु विचार पनु तजि नरनाहू ।
सीय राम कर करै बिबाहू ॥ बालकांड 2 4*

ज्ञानाधिक्य से भी जड़ता पनपती है। व्यवहार दोष उपजता है। वेद ज्ञान का प्रतीक है, किंतु अत्यधिक वेदाभ्यासी और व्यवहार निराशी को 'जड़' कभी-कभी कह दिया जाता है वैदिको जड़ः। वैयाकरण खसूची अर्थात् अर्धमात्रा लाघव के लिए जो पुत्रोत्सव मनाता हो, उसे खूँसठ ही तो कहा जाता है। पहुँचे दार्शनिकों पर अर्द्ध विक्षिप्तता का आवेश देखा जाता है। अल्प के लिए बहुत का त्याग, या हठ के लिए विवेक की उपेक्षा विचार मूढ़ता कहलाती है। जान बूझकर क्रूर-क्रोध को न्यौतना क्या जड़ता का काम नहीं? धनुष का भंजन परशुराम के प्रभंजन जैसे क्रोध का न्यौतना ही तो था। सौभाग्य था कि कुछ अघट नहीं घटा, नहीं तो राम के राजतिलक जैसा कुछ भी दुर्घट घट सकता था। जनक जैसे ज्ञानी ने कैसे सोच लिया कि शस्त्र समर्पण कर देने सेमहेन्द्र पर्वत पर चले जाने से परशुराम का क्रोध समाप्त हो गया है और वे वापस नहीं आएँगे? ऐसी समझ जड़ताई की हो सकती है, बुद्धिविवेक की नहीं, क्योंकि दबा क्रोध अवसर पाकर तेजी से वापस आता है। यह भी जड़ताई का ही काम कहा जा सकता है कि वह पूज्य के प्रति अश्रद्धा या अनादर का भाव पैदा करे। धरोहर कोमूल्य को मटियामेट करने के लिए उकसाए। शिव धनुष उनके पूर्वज देवरात को धरोहर के रूप में मिला था। धरोहर की रक्षा की जाती है न कि उसका विनाश। ऐसा कार्य पाप में शामिल है। फिर वह पूजनीय का पूज्य धनुष था। उसके भंजन का प्रण रोप कर जनक ने एक प्रकार से शिव के व पूज्य के प्रति अश्रद्धा अनादर प्रकट कियाजड़ताईवश ही सही। वह धनुष नहीं, धनुष था, जो आर्त त्राण के लिए बना था। कार्य सम्पन्न होने पर विसर्जित किया जा सकता था, पर तोड़कर फेंक दिया जाना मूढ़ता को ही झलकाता है। स्वयं जनक उस धनुष का परिचय देते हुए विश्वामित्र से कहते हैं कि यह वही धनुष है जिसका जनकवंशी राजाओं ने सदा पूजन किया है

*इदं धनुर्वरं ब्रह्मन् जनकैरभि पूजितम् ।
राजभिश्च महावीरैरशक्तैः पूजितं तदा ॥
वाल्मीकी रामायण, बालकांड, सर्ग, 86-8*

राम में ऐसा स्खलन नहीं देखा जाता। उन्होंने गुरु से आज्ञा पाकर प्रणामपूर्वक उसे उठाया और चाप चढ़ाने के क्रम में धनुष अपना काम समाप्त समझकर स्वयं टूट गया। प्रणम्य के हाथों सुगति पा गयाअपनी जड़ता छोड़कर

*छुअतहिं टूट पिनाक पुराना ।
मैं कोहि हेतु करों अभिमाना ॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी ।
होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥*

कभी-कभी जाने-अनजाने में भी अच्छा कार्य हो जाया करता है अथवा किसी महत्वपूर्ण घटना के घटित होने पर उसके अच्छे-बुरे पक्ष भी उजागर हो जाया करते हैं। यह धनुष यज्ञ भी मंगलभाव से प्रेरित था। अतएव इस धनुष यज्ञ के निम्नलिखित फलितार्थ 'जड़जनक' पदबंध में प्रयुक्त 'जड़' विशेषण के विरुद्ध है। प्रथम तो इस धनुष यज्ञ के निमित्त से जीर्ण धनुष शुभ गति पा गया। दूसरा सीता-राम एकात्म हो गए। मिथिला अवध की मैत्री बढ़ी। तीसरा दुष्ट राजाओं को संकेत मिल गया कि वे स्वेच्छाचारिता और जनविरोधी करतूतों से बाज आएँ। राम-रवि का उदय हो चुका है 'उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।' धनुष का टूटना राम महिमा का प्रकटीकरण है 'तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी।' राम ने तो अतित्राण के लिए धनुष-बाण धारण किया था। वे उसे भला क्यों तोड़ने चले। और भी प्रकट-अप्रकट फलितार्थ देखे और अनुभव किए जा सकते हैं। तुलसीदास की चौपाइयों में झाँककर देखिए तो सही। मिथिलावासियों ने तो राम का दर्शन कर जन्म सफल माना ही अन्य भले प्रतियोगी राजाओं ने भी ऐसा ही अनुभव किया

*करहु जाइ जा कहूँ जोइ भावा।
हम तो आजु जनम फलु पावा।*

यथार्थ-चित्रण की नूतन अवधारणा और हिंदी उपन्यास

पुष्पपाल सिंह*

उपन्यास में यथार्थ-चित्रण का स्वरूप क्या हो, इसको लेकर हिन्दी समीक्षा में खूब विमर्श हुआ, अनेक बहसों चलीं और इस बहस से जो सैद्धांतिकी निर्मित हुई क्या उससे हिन्दी पाठक, उपन्यासकार और समीक्षा का भी कुछ लाभ हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। इधर, हाल के वर्षों में, हिन्दी में कितने ही श्रेष्ठ उपन्यास आए तथा पत्रपत्रिकाओं में 'उपन्यास विधा का संकट और भारतीय यथार्थ की चुनौती'¹ 'यथार्थवाद का अन्त और उपन्यास की नई रचनाशीलता'², 'यथार्थ की सीमाएँ और हिन्दी उपन्यास साहित्य³ जैसे कई लेख देखने में आए। इन लेखों में बेखेज, मार्खेज, कार्ल्स फून्टेस, मिलान कुंदेरा, सलमान रुश्दी, आदि के विचार और उपन्यासों के नाम तथा कथ्य पर प्रकाश डालकर सामान्य पाठकों और सभी उपन्यासकारों को 'आतंकित' तो किया जाता ही है, आश्चर्य यह देखकर होता है कि 'भारतीय यथार्थ' का चित्रण करती एक भी औपन्यासिक कृति हिन्दी में इन्हें उपलब्ध नहीं हो पाती। उपन्यास के यथार्थ की समझ को विकसित करने में इस प्रकार की फतवेबाज उक्तियाँ (स्वीपिंग रिमाक्स) हमें कहीं भी ले जाकर खड़ा नहीं कर पाती हैं, " 'युद्ध और शान्ति' यथार्थवाद का महाकाव्यात्मक उपन्यास है और 'टेरा नोस्ट्रा' है फंतासी का महागल्प। इस उपन्यास से सारे संसार का गल्प एक नए युग में प्रवेश करता है। मैक्सिको के कथाकार कार्ल्स फून्टेस ने इस उपन्यास में एक काल्पनिक महागाथा की रचना की है जो कि फंतासी है।"⁴ तथा "1975 ई. को विश्व के कथा-साहित्य में नई कल्पनाशीलता के आने का वर्ष माना जा सकता है। यहीं से इस सदी का चौथा और अन्तिम चरण आरम्भ होता है। इसी वर्ष 'टेरा नोस्ट्रा' प्रकाशित हुआ।"⁵ यानी यह मानकर चलें कि हिन्दी ही नहीं संसार की सारी भाषाओं के उपन्यासकारों ने प्रथमतः

* 63, केशर बाग, पटियाला

इस उपन्यास, टेरा नोस्ट्रा को पढ़ा होगा और तब 'सारे संसार के गल्प' के नव-युग प्रवेश की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई होगी। इस लेख के सुधी लेखक विजेन्द्र नारायण सिंह को "हिन्दी उपन्यास अपनी यात्रा में थक गया" लगता है और उसमें "रचनात्मकता की नई कोंपल नहीं फूट रही है" की प्रतीति होती है। उन्हें सलमान रुश्दी के 'द सैटनिक वर्सेस' (The Santanic Verses) में "नई कल्पना की एक विशेषता है कल्पना की उष्णकटिबंधीकरण (Tropicallisation)। रुश्दी इस उपन्यास में परीकथा और पुराण कथा की पद्धति का अनुसरण करते हैं।" इसी प्रकार वे मिलान कुंदेरा के 'अमरत्व' (Immortality) उपन्यास की इस बात की प्रशंसा करते हैं कि वहाँ "बीसवीं सदी के अन्त में इस कहानी के साथ अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में महाकवि गेटे और बेटिना की प्रेम कहानी भी जुड़ती है। स्थान और काल की इस च्युति के साथ स्वर्ग में गेटे और अमेरिकी कथाकार हेमिंग्वे के संवाद भी होते हैं।... मानना होगा कि न केवल अरस्तू के संकलन मात्र का सिद्धान्त ध्वस्त हो गया है वरन् यथार्थ का चूल ही हिल गया है।" कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' में कारगिल-युद्ध से लेकर प्राक्-ऐतिहासिक काल तक के घटना-क्रम, मुगल साम्राज्य की अनेक हस्तियाँ, मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा का काल, कोफी अनान का समय-सब एक दूसरे में बहुत कुशलता से काल में, काल-क्रम में अन्तर्गमन करते हैं पर लेखक को वे कहीं भी नजर नहीं आते। विजेन्द्रनारायण सिंह के लेखों के इन उद्धरणों से मैं यह स्थापित करना चाहता हूँ कि ऐसा केवल उनके या राजकुमार राकेश के द्वारा ही नहीं हुआ अपितु इधर एक दृष्टि पनप रही है कि हम हिन्दी उपन्यास के यथार्थ की 'खोज' में या तो इन विदेशी चर्चित उपन्यासों का नाम लेते हैं, पश्चिम में रचे गए उपन्यास की सैद्धान्तिकी का हवाला देते हैं, या फिर भारतीय भाषाओं के उपन्यासों की बात न कर भारत के अंगरेजी लेखन, भारतीय उपन्यासकारों के अंगरेजी उपन्यासों (खुशवंत सिंह, अनीता देसाई, चमन नाहल, विक्रम सेठ, अरुंधति राय आदि) की बात करते हैं। बच्चन सिंह अपनी पुस्तक 'उपन्यास का काव्यशास्त्र' में इसी प्रकार अनेक स्थानों पर पश्चिमी आलोचकों का नाम ले ले कर ही अपनी बात कह पाते हैं। वे न केवल हेनरी जेम्स, परसिल्यूबक, वर्जीनिया उल्फ, सेलीबार्थ, आयनेवाट, डेविड लान, करमोड आदि का नाम लेते हैं अपितु उन्हीं के सिद्धान्तों के प्रकाश में हिन्दी उपन्यास के यथार्थ की तलाश करते हैं, जैसे कि हिन्दी या भारतीय उपन्यासकारों ने पहले पश्चिम के इन आचार्यों की सैद्धान्तिकी को पढ़ा हो और फिर वे उपन्यास-रचना में संलग्न हुए हों। एक दो उदाहरण कथन की संपुष्टि में दिए जा सकते हैं :

(क) "वस्तुतः अज्ञेय की काल-चेतना का मूलाधार बर्गसाँ का 'ड्यूरी' (अवधि) का सिद्धान्त है। इसे धार देने में जीद और ज्वायस का भी महत्वपूर्ण योग है। बर्गसाँ ऐसे आत्म की परिकल्पना करता है जो अतीत की अवधारणाओं को अलग-अलग आयात करता हुआ उन्हें एक ऐसी

संश्लिष्ट-संपूर्णता में आबद्ध कर देता है, जिसमें प्रत्येक अवस्था दूसरी को अर्थवान बनाती है।"

(ख) 'कितने पाकिस्तान' (कमलेश्वर) के संदर्भ "यह टाइम शिफ्टिंग का नहीं, स्पेस टाइम-कान्टीन्यूअंम का उपन्यास है, उसमें अतीत नहीं वर्तमान है।"

इसी प्रकार अन्य बहुत से अध्ययनों में उपन्यास के यथार्थ-चित्रण के विश्लेषण में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों का आरोपण इस रूप में किया गया है कि उपन्यासकार ने मानो पहले उपन्यास की सैद्धान्तिकी का अध्ययन किया है।

इस 'नई आलोचना दृष्टि' के बर-अक्स हिन्दी उपन्यास में यथार्थ की स्थिति को लेकर हमारे (हिन्दी) उपन्यासकारों की दृष्टि कहीं अधिक साफ है। प्रायः सभी उपन्यासकारों (सन्दर्भ *संवाद और हस्तक्षेप*, खण्ड : पाँच, में प्रकाशित हिन्दी उपन्यासकारों के वक्तव्य) ने यह माना है कि वे उपन्यास की किसी सैद्धान्तिकी का 'अध्ययन मनन' कर उपन्यास-रचना में प्रवृत्त नहीं होते। वे अपने यथार्थ को अपनी तरह से ग्रहण कर उसका पुनर्सृजन करते हैं। यह 'पुनर्सृजन' ही उनकी अपनी यथार्थ-चित्रण की प्रविधि और दृष्टि है। यह बड़े सुखद आश्चर्य का विषय है कि उपन्यास में यथार्थ-चित्रण की स्थिति पर इधर के चिन्तन से कहीं अधिक स्पष्ट दृष्टि और सार्थक चिन्तन मराठी के प्रसिद्ध समाज-चिंतक और साहित्य तथा इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े (1863-1926 ई.) के 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध (प्रथम प्रकाशन 1902 ई.) में प्राप्त होता है जिसे 'आलोचना' के 84 वें अंक में प्रकाशित किया गया था। यह निबन्ध आज भी उतना ही सार्थक लगता है और 'जादुई यथार्थवाद' की नई बहस पर भी उतनी ही प्रासंगिक टिप्पणी प्रस्तुत करता है 'अद्भुत' (रोमांटिक) तथा 'यथार्थवादी' (रिअलिस्टिक)। उनकी मान्यता है कि 'मात्र यथार्थ अंकन उपन्यास को पुलिस रिपोर्ट बना देगा। इसलिए यथार्थवादी उपन्यास की यही नियति है कि उसे अद्भुत का अर्थात् रोमांटिसिज्म का सहारा लेना पड़ता है, उससे समझौता करना पड़ता है।' 'शुद्ध अद्भुत (रोमांटिक) और शुद्ध यथार्थ (रिअलिस्टिक) उपन्यास में असम्भव है।' अद्भुत (कल्पना) का सहारा लिए बिना लेखक उपन्यास में अपनी दृष्टि भी अनुस्यूत नहीं कर सकता, इसीलिए उन्होंने कहा "...यथार्थ संसार की अपूर्णता को अद्भुत सृष्टि में पूर्णता प्रदान की जाती है।" वस्तुतः अन्य कलाएँ और साहित्य बिना 'अद्भुत' के अस्तित्व में ही नहीं आ सकतीं। इसलिए राजवाड़े प्रस्थापित करते हैं... "यथार्थवाद का लेबल लगे किसी भी उपन्यास में अद्भुत का समावेश हुआ ही। संसार में एक स्थान ऐसा है जहाँ अद्भुत का सबसे कम अंश मिलता है और वह है अदालत के मामलों के समाचार पत्रों में छपने वाले इतिवृत।...जिस तरह पृथ्वी से परे मनुष्य का अस्तित्व नहीं, उसी तरह अद्भुत के अभाव में उपन्यास का भी अस्तित्व नहीं।"⁶ उपन्यासकार द्वारा प्रयुक्त यह 'अद्भुत' ही वस्तु यथार्थ को कला-यथार्थ में रूपांतरित करता है।

‘यथार्थ’ की अवधारणा के सम्बन्ध में हिन्दी में हीगेल, जार्ज लुकाच, गिरार्ड ल्यूसिएँ गोल्डमान, जेम्स ज्यायस, मार्खेज, कार्लस फून्टेज, मिलान कुंदेरा, आदि-आदि के सिद्धान्तों-रचनाओं की चर्चा बहुत हो चुकी है। यदि इन्होंने यथार्थ की अवधारणा के सम्बन्ध में दृष्टि को साफ भी किया है, विस्तार भी दिया है, तो उलझाया भी काफी-काफी है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि ‘यथार्थ’ की अवधारणा की खोज हम अपने उपन्यासकारों की दृष्टि और रचनाओं को केन्द्र में रखकर करें। अज्ञेय, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा आदि की पीढ़ी ने तो विदेशी उपन्यासों को खूब-खूब पढ़ा किंतु परवर्ती पीढ़ी ने भी विदेशी चर्चित उपन्यासों को पढ़कर अपने सृजन की पृष्ठभूमि बनाई हो, या कहेँ अपने उपन्यासों की रचना से पूर्व इन्हें पढ़ना ‘लाजिमी’ समझा होऐसा कुछ नहीं लगता, अनेक उपन्यासकारों की उपन्यास सम्बन्धी अवधारणा से यही बात सिद्ध होती है। निर्मल वर्मा ने अपने एक भाषण में उपन्यास की अवधारणा पर विचार करते हुए इस बात पर बल दिया कि हमें पाश्चात्य विद्वानों के उपकरणों (टूल्स) के आधार पर हिन्दी उपन्यास के यथार्थ का परीक्षण नहीं करना चाहिए अपितु उसके लिए अपनी ही उपन्यास-परम्परा का दोहन करना होगा, हम अकसर पश्चिमी उपन्यास में होने वाले मूलभूत परिवर्तनों की चर्चा करते हैं प्रूस्त, काफ्का, जॉयस, म्युजिल ऐसे नाम हैं जो अनायास याद आते हैं, किंतु इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि खड़ी बोली के संक्षिप्त इतिहास में हिन्दी कहानी और उपन्यास ने इतने कम समय में जो अप्रत्याशित मोड़ लिए हैं, वे न केवल भारतीय भाषाओं के इतिहास में बल्कि यूरोपीय उपन्यास के सन्दर्भ में भी दुर्लभ दिखाई देते हैं। प्रेमचंद के उपन्यास जो यथार्थवादी शैली में आज इतने परम्परागत जान पड़ते हैं, उन्होंने अपने समय में उन्नीसवीं शती की किस्सागोई की जमीन को छोड़ कर अचानक ऐसा मोड़ लिया था जिसमें भारतीय समाज का औपनिवेशिक चरित्र अपने सम्पूर्ण दैन्य-दरिद्रता के साथ प्रगट हुआ था। पिछले दो सौ वर्षों के दौरान उत्तरी भारत के ग्राम्य जीवन में जो विषमताएँ और आत्मवंचनाएँ आई थी, प्रेमचंद के पात्रों के चेहरों पर उनकी खरोंचे जिस कलात्मक निर्ममता से व्यक्त हुई हैं, वह सहसा हिन्दी की उपन्यास विधा को बीसवीं शती के साहित्य के समकक्ष ला खड़ा कर देती है।⁷ वे इन विदेशी उपन्यासों से शैली के स्तर पर एक अनुभव सम्पन्नता और दृष्टि तो ग्रहण करते हैं, किंतु वे मिलान (कुंदेरा) या कार्लस फून्टेस से प्रेरणा ग्रहण कर उनके अनुगमन पर रचना-रत हुए हों, यह दृष्टि सर्वथा भ्रामक है। कलाकार जितना ‘पढ़ता’ है, ‘गुनता’ है, वह उन्हीं पग-चिह्नों पर चले, यह आवश्यक नहीं। पिछले बीस बरसों की हिन्दी की औपन्यासिक कृतियों का अध्ययन यह प्रस्थापित करने के लिए पर्याप्त है कि उसमें कहीं भी इन कृतियों-‘इमोर्टलिटी’, ‘सेटैनिक वर्सेस’, आदि का प्रभाव नहीं है। आज जब हमारे पास उपन्यासों की एक समृद्ध परम्परा है तो इसे ‘स्यापे’ में कोई सार नजर नहीं आता, “हमारी (हमारे) युग की रचनात्मकता का जीरो आ गया

है। ये संकट की घड़ी है। काँटा मध्य रात्रि पर आया हुआ है और यथार्थवाद की घड़ी पर मध्य-रात्रि के घण्टे की चोट पड़ रही है। सवाल ये है कि प्रतिभा की बड़ी विशेषता कालांतरण की क्षमता होती है। जिसमें कालांतरण की क्षमता नहीं होती वह प्रतिभा नहीं है।⁸ इसमें कोई संदेह नहीं है कि ‘यथार्थ’ को ‘यथार्थवाद’ के अन्तर्गत जिस रूप में ग्रहण किया गया, आज उससे बहुत अलग और आगे जाकर अपने यथार्थ का सृजन उपन्यासकार ने किया है। यह यथार्थ को ग्रहण करने की नई दृष्टि और प्रविधि है, उसके क्षरण या समाप्ति का ‘जीरो ऑवर’ नहीं। जिस कल्पनापरक जादुई यथार्थ की बात हम सन्दर्भों से अलग कटकर करते हैं, आज के जटिल यथार्थ की अभिव्यक्ति के वे आवश्यक उपादान बन गए हैं।⁹ यदि आज उपन्यासकार फंतासी, नीति-कथा, पौराणिक कथा, मिथ आदि का प्रयोग कर यथार्थ की प्रस्तुति में प्रवृत्त होता है तो वह उसका यथार्थवादी धारा से ‘कटाव’, ‘अलगाव’ या ‘च्युति’ नहीं है, वे यथार्थ को अभिव्यक्ति के विभिन्न सशक्त उपादान (टूल्स) हैं, मनुष्य के वर्तमान को देखने-परखने के दृष्टिवान साधन हैं। इनके माध्यम से वर्तमान की समस्याओं पर गहन चिन्तन हैं।¹⁰ अस्वाभाविक नहीं कि नारी की स्वतंत्र अस्मिता के प्रश्न पर विमर्श के लिए हिन्दी ही नहीं कई भारतीय भाषाओं में ‘द्रौपदी’ के मिथक का पुनर्प्रस्तुतीकरण हुआ है। प्रतिभा राय के ‘द्रौपदी’ (ओड़िया) और बच्चन सिंह के ‘पांचाली’ उपन्यासों में यही दृष्टि है।

यथार्थ की प्रस्तुति लेखक किस रूप में करता है, इस पर बहुत विमर्श हुआ है। एक बात बहुत स्पष्ट है कि लेखकीय यथार्थ, दृश्यमान यथार्थ, वस्तुपरक यथार्थ से बिल्कुल अलग होता है। उपन्यासकार अपनी इस सृष्टि, प्रतिसृष्टि का ‘विश्वामित्र’ है।...“रचनाकार जिस यथार्थ को उजागर करता है, उसमें परम्परा और प्रयोग के द्वन्द्व से निष्पन्न रचनात्मक ऊर्जा अपने वर्तमान के समग्र को उजागर करती है। इस सत्य को व्यक्त करने के लिए रचनाकार को अपने निजी अनुभवों की जमीन को ही तोड़ना पड़ता है। अपने आपको चरित्रों में ढालना पड़ता है। इस रचना-संसार में उसके संस्कार, स्वप्न और विचारों का समग्र प्रस्फुटन होता है। अपने समय और समाज को रुपायित करने और उससे जूझने के लिए रचनाकार को जिन शब्दों का सहारा लेना पड़ता है, वे शब्द सत्य के बहुत नजदीक होकर ही यथार्थ की रचना करते हैं।”¹¹ यही जीवन यथार्थ और कला-यथार्थ का अन्तर है।

जीवन यथार्थ और कला यथार्थ

जीवन यथार्थ और कला यथार्थ, जिसे ‘रचना यथार्थ’ भी कहा जा सकता है निश्चय ही अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं यदि ऐसा न होता तो कथा एवं समाचार-पत्र-रिपोर्टिंग में अन्तर ही नहीं होता। भले ही उपन्यास के मुखपृष्ठ पर ‘एक यथार्थवादी उपन्यास’ लिखा हुआ हो किंतु जब उसमें घटनाओं की प्रस्तुति मात्र

यथावत् रूप में होती है, उसमें कलात्मकता, आकर्षण नहीं आ पाता है। कथाकार सूर्यबाला ने इस बात को इस रूप में कहा है, “यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने वाले इस ‘रचनायथार्थ’ में रचनाकार की अपनी दृष्टि, संवेदना, कल्पनाशीलता और स्थितियों की अनायास समीक्षा, और बहुत सारे तत्त्व समाहित होते हैं। इन अंकों के निचोड़ से बनता है कथा-यथार्थ...चाहे वे इतिहास के दस्तावेज हों या मनोविज्ञान की गहनतम पर्तें या आंचलिक मिट्टी की सोंधी खुशबू, सारे कुछ को रचनाकार के सूक्ष्म, मेटलडिटैक्री टैंकों से गुजर कर ही अपना यथार्थ प्रमाणित करना होता है। यहाँ कभी एक चरित्र से छिटककर कई चरित्र बनते हैं तो कभी यथार्थ के कई चरित्रों के अंशदान से कोई एक। एक स्थिति से अनेक स्थितियाँ, एक उपवन से अनेकवर्णी उपवन और कभी-कभी तो पूरा जंगल ही।”¹² हिन्दी में यथार्थवादी परम्परा के पुरोधा प्रेमचंद ने जो बात पहले कही थी “कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं”, आज भी वस्तुपरक यथार्थ और कला-यथार्थ के सम्बन्ध में उतनी ही सही और उनकी कथा-परम्परा के वंशधरों के लिए एक आदर्श (मॉडल) है। यथार्थ की अवधारणा के सम्बन्ध में हमें हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासकारों की धारणा पर ही बल देना चाहिए, हम पग-पग पर अंग्रेजी उपन्यासकारों के यथार्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण को तो उद्धृत करते हैं किंतु हमारे उपन्यासकारों ने अपनी यथार्थ-चित्रण की अवधारणा के विषय में जो भी कहा है, उसकी ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए, उसी से हमारे जातीय परम्परा के उपन्यास की सैद्धान्तिकी की निर्मिति होगी। उदाहरणार्थ कृष्ण बलदेव वैद ने अपने डायरी-अंश में उपन्यास के यथार्थ पर एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की है, “मेरी नजर में अजीम उपन्यास वही है जिसकी जान किसी ऐसे मजमून में न हो जो एक ही बार पढ़ने पर पूरी तरह समझ में आ जाए। गहराई से मेरा मतलब यही है। अतिभावुकता को मैं अजमत का दुश्मन समझता हूँ क्योंकि उसमें झूठ का अंश होता है, ऐसे झूठ का जिसके बूते पर आप कच्चे और कमनजर पाठकों को लुभा लेने में सफल हो जाते हैं। अजमत की एक और अलामत मेरी नजर में यह भी है कि पढ़ने के बाद पाठक परेशान हो और अन्दर तक, हमेशा के लिए बदल जाए।”¹³ कृष्ण बलदेव वैद के पूरे कथन से सहमत होना आवश्यक नहीं, इसमें पर्याप्त वैमत्य की गुंजाइश है कि उपन्यास का मजमून ऐसा न हो कि पहली बार ही पढ़ने पर समझ में आ जाए। फिर भी उनके लेखे यथार्थ की जो अवधारणा है, उस पर विचार करना अपेक्षित है। इसी प्रकार इसी डायरी अंश में उन्होंने कहा है “अच्छा उपन्यास वही जिसके हर वाक्य के बाद कुछ देर तक टहलना पड़े।”¹⁴ यही कलात्मक आदर्श लेखक की अपनी विचारधारा, दृष्टि और अनुभव-संपन्नता के आधार पर एक ही घटना, मानवीय त्रासदी, पर अलग-अलग संवेदना की कथा-कृतियाँ और उनके चरित्र प्रस्तुत करता है। भारत विभाजन की त्रासदी पर ‘झूठा सच’, ‘तमस’ और ‘उन्माद’ (भगवान सिंह) आदि कृतियों में जो दृष्टि-भेद, पात्रगत विभिन्नता, और समस्याओं पर सोचने

का, विषय के निर्वाह का अंतर है, वह इस कला-दृष्टि के आदर्श के संकल्पना, मूल्यों के प्रति लेखकीय दृष्टिकोण की भिन्नता का ही परिणाम है। इसीलिए विषय एक होते हुए भी नारी-स्वातंत्र्य और भारतीय परिदृश्य में उनकी समस्याओं पर ‘छिन्नमस्ता’ (प्रभा खेतान), ‘कठगुलाब’ (मृदुला गर्ग) ‘इदन्नमम्’, ‘चाकू, (मैत्रेयी पुष्पा) और ‘तत्त्वमसि’ (जया जादवानी), ‘आवां’ (चित्रा मुद्गल) आदि अलग-अलग रूपों में अपनी निजता स्थापित करती हैं। राजी सेठ ने इस कला-यथार्थ या ‘रचना यथार्थ’ को ‘अयथार्थ’ कहा है, “किसी अच्छे उपन्यास से गुजरते समय हमें कहाँ पता होता है कि हम एक बहुत बड़े अयथार्थ से गुजर रहे हैं, जिसकी सृष्टि उपन्यासकार ने परिचित यथार्थ को ध्वस्त करके बनाई है। ऐसा तो सदा होता है कि जीवन और अनुभवों के ऊबड़-खाबड़, क्रमहीन आगे-पीछेपन को रचना एक अर्थपूर्ण रचाव में संयोजित करती है, इसीलिए वह ‘रचना’ कहलाती है। उसमें, जिन्दगी की रफ्तार से ज्यादा आयाम, ज्यादा संभावनाएँ, ज्यादा विकल्प होते हैं। क्योंकि वह होती नहीं, सिरजी जाती है। “कलाकार की इस नव-सृष्टि में” चुनौती वहाँ ज्ञात से अधिक जीवन के अज्ञात पहलुओं के अन्वेषण की है।”¹⁵ ‘जीवन के अज्ञात पहलुओं का अन्वेषण’ उपन्यासकार अपनी दृष्टि और समझ से करता है। इस बात से सहमत होते हुए निर्मल वर्मा भी मिलान कुंदेरा के साक्ष्य से इसे उपन्यास की समझ और सूझबूझ मानते हैं। मिलान कुंदेरा इसे ‘विजडम आफ दी नावेल’ कहते हैं।

जीवन-यथार्थ को कथा के माध्यम से कला-यथार्थ में रूपांतरित करने की प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी शैली और शिल्प होता है। उस कला-यथार्थ में ही उसका संवेदन-स्तर, जीवन स्थितियों में अपने प्रकार से हस्तक्षेप करने की क्षमता, चीजों-स्थितियों को देखने और ग्रहण करने की उसकी सामर्थ्य और दृष्टि का परिचय मिलता है। उसके अनुभव की निजता पूरी तरह कृति में प्रतिच्छायित होती है। यह बात राजेन्द्र यादव भी ‘हंस’ (दिसम्बर 2001) में इसी रूप में स्वीकारते हैं, “हर आत्मकथा एक उपन्यास है और हर उपन्यास एक आत्मकथा। दोनों के बीच सामान्य सूत्र फिक्शन है। इसी का सहारा लेकर दोनों अपने आपको कैद से निकालकर दूसरे के रूप में सामने खड़ा कर देते हैं। यानी दोनों ही कहीं न कहीं सर्जनात्मक कथागढ़ते हैं... एक ठोस वास्तविकता बीत जाने के बाद किसी आसमानी नक्षत्र की तरह भाप बनकर समाप्त हो जाती है। हम स्मृति और कल्पना से उसका पुनर्सृजन करते हैं। वह हमारी व्यक्तिगत या सामूहिक यादे हैं जो बादलों की तरह रूप बदलती रहती हैं।” वस्तुतः ‘ठोस वास्तविकता’ का स्मृति और कल्पना से हुआ यह पुनर्सृजन ही उपन्यास का यथार्थ बनता है। प्रत्येक उपन्यासकार जीवन की नई-नई चुनौतियों को स्वीकारता हुआ उन्हें अपनी कृति के माध्यम से अपने सर्जक व्यक्तित्व के अनुरूप प्रस्तुत करता है। यही उपन्यास का ‘यथार्थ’, उसका ‘अपना संसार’ है। इसी ‘अपने संसार’ में एक प्रतिसंसार रचता हुआ उपन्यासकार आज क्षरित होते श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों,

पश्चिम से आई अपसंस्कृति की आँधी, उपभोक्तावाद और ग्लोबीकरण के अभिशापों से श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को बचाने की चिन्ता में निरन्तर संलग्न है।

संदर्भ

1. 'अकार', एकप्रवेशांक, मार्च, 2001
2. 'कथाक्रम', जुलाई-सितम्बर, 2001
3. *संवाद और हस्तक्षेप*, खण्ड : पाँच, संपा. विजयकुमार देव (म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल)
- 4-5. 'कथाक्रम', जुलाई-सितम्बर, 2001, पृ. 41 व 43
6. 'आलोचना', संपा. नामवर सिंह, 84 वाँ अंक, जनवरीमार्च 1988
7. निर्मल वर्मा, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा 'फणीश्वरनाथ रेणु स्मृति व्याख्यान माला' के अन्तर्गत दिया गया भाषण, 'बहुवचन', अंक 3, अप्रैल-मई-जून, 2000 ई.
8. विजेन्द्रनारायण सिंह, *संवाद और हस्तक्षेप*, पृ. 88
इस कथन का पूर्वाद्ध भी लेखक के निष्कर्षों को देखने के लिए ध्यातव्य है, "बहुत यथार्थ हम झेल चुके हैं, यथार्थवाद का यात्री अब थक गया है। रेणु ने नया जीवन प्रदान करने के लिए प्रकृतिवाद का सहारा लिया। कुछ गीत गाए साइकिल की ट्रिन-ट्रिन, कुछ पक्षियों की चों-चों और तरह-तरह के कुछ कैमरे की क्लिक-क्लिक। ये सब यथार्थवाद में प्रकृतिवाद को लाकर के रेणु ने उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसी निष्ठा का प्रयोग 'चाक' में किया गया है। उसी पद्धति को और चाक जो है वो रेणु की 'परती परिकथा' की जुगाली है। यथार्थवाद का सबसे अधिक अपकर्ष विवेकीराय में दिखलाई पड़ता है। एक पद्धति निकली पाठ के भीतर पाठ की 'मुझे चाँद चाहिए।' अज्ञेय इसका उपयोग बहुत पहले किसी न किसी रूप में कर चुके थे।"
9. कैथराइन ह्यूम (Kathryn Hume) ने अपनी पुस्तक (Responses to Reality in Western Literature) में यही तथ्य स्वीकारा है।
10. "Fantasy cannot be avoided in the mythic mode. While nothing can guarantee and good fantasy, the potential exists in this mode simply because it suited to deal with issues important to man."
11. डॉ. श्यामसुन्दर दुबे, 'यथार्थ की सीमाएँ और हिन्दी-उपन्यास-साहित्य', *संवाद और हस्तक्षेप*, पृ. 91
12. सूर्यबाला, वही, पृ. 99
13. कृष्ण बलदेव वैद, *शम अ हर रंग में*, पृ. 144
14. वही, पृ. 207
15. राजी सेठ, वही, पृ. 48-49

उत्तरपाड़ा भाषण, शिकवा और हिन्द स्वराज : तीन ऐतिहासिक विचारों के सौ वर्ष

शंकर शरण*

यह भारत के विचार जगत की दुर्बलता ही है कि जिस तरह मोहनदास करमचंद गांधी के *हिन्द स्वराज* के प्रकाशन की सौवीं वर्षगाँठ चारों तरफ मनाई गई, उस की तुलना में इकबाल की शिकवा का कोई जिक्र भी नहीं हुआ। जबकि 1909 में ही प्रकाशित यह किताब भी उतनी ही लघु, मौलिक और प्रसिद्ध है, जितनी *हिन्द स्वराज*। अपनी वैचारिक शक्ति, समाज पर प्रभाव और ऐतिहासिक भूमिका में इकबाल का *शिकवा* गांधी के *हिन्द स्वराज* की तरह ही अत्यधिक जबर्दस्त रचना है। इसने न केवल भारत के मुस्लिम मानस को चुंबकीय शक्ति से खींचा, बल्कि पूरे विश्व के इस्लामी चिंतन में इसे क्लासिक का दर्जा हासिल है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस जैसे अंतर्राष्ट्रीय, प्रतिष्ठित प्रकाशन से यह निरंतर छपती रही है, और दर्जनों संस्करणों के बाद भी सर्दव इस की माँग अकादमिक जगत में भी बनी रहती है।

लगभग उसी श्रेणी में 1909 में ही दिया गया श्री अरविन्द का उत्तरपाड़ा भाषण भी है। अलीपुर बम केस के बाद जेल से रिहा होने के बाद उनका यह पहला सार्वजनिक संबोधन अपने तरह की अनूठी वस्तु है। इस से तुलनीय वैचारिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक उद्बोधन ढूँढना कठिन है। कदाचित कुछ हद तक शिकवा में ही, एक संकीर्ण आधार पर ही सही, वह आवेग और सांस्कृतिक-राजनीतिक संदेश है। उत्तर पाड़ा भाषण ने लंबे समय तक भारतीय राष्ट्रीय जीवन को प्रेरित, उद्वेलित, प्रभावित किया था। उसके संदेश की महत्ता आज भी कम नहीं हुई है। उसे आज भी पढ़कर उसमें प्रस्तुत किसी तत्त्व को पुराना या बीते जमाने की बातें नहीं कहा जा सकता।

* डॉ. शंकर शरण, IV/44 एनसीईआरटी आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-16

अतः एक ही वर्ष काल की तीन ऐतिहासिक प्रस्तुतियों में से केवल एक ही की शताब्दी चर्चा यही बताती है कि हमारे बौद्धिक सरकारी और चालू प्रसारों का अनुगमन ही करते हैं। चूँकि गांधी-नेहरू एक निरंतर प्रचारित, विज्ञापित विषय हैं, अतः उनसे संबंधित तिथियों, बातों को सहज महत्वपूर्ण मान लिया जाता है। इसीलिए इस वर्ष हिन्द स्वराज पर जहाँ-तहाँ विचार-विमर्श होता रहा। जबकि गंभीरता, महत्ता और दार्शनिक उन्मेष की दृष्टि से उत्तरपाड़ा भाषण उससे अधिक मूल्यवान ठहरता है। समाज पर प्रभाव की दृष्टि से विचार करें, तो इकबाल का शिकवा गाँधी के के हिन्द स्वराज की तुलना में बहुत अधिक प्रभावशाली रहा। व्यवहार में भी, इसने भारत को तोड़कर एक मजहब आधारित नया देश ही बनाने का वैचारिक-सांगठनिक उपक्रम सफलतापूर्वक संपन्न किया। उसकी तुलना में हिन्द स्वराज की ठोस उपलब्धि क्या बताई जा सकती है, जिसने इसके प्रणेता के उत्तराधिकारी तक को तनिक भी प्रभावित नहीं किया था।

अतः कई कारणों से शिकवा की शताब्दी चर्चा भी गंभीरता से होनी चाहिए थी। बल्कि सौ वर्ष बाद उत्तरपाड़ा भाषण, हिन्द स्वराज और शिकवा को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ना कई पहलुओं से विचारोत्तेजक और लाभदायक है। प्रथम, यह जानने के लिए कि एक ही देश में, विदेशी शासन में रहने की एक ही परिस्थिति में दो बड़े हिन्दू विचारक और एक बड़े मुस्लिम विचारक ने देश और दुनिया को किस तरह देखा था? अपने-अपने अनुयायियों और अपने समाज के लिए क्या कर्तव्य निर्धारित किए थे? उनकी दार्शनिक मान्यताएँ क्या थीं और उनमें विराट अंतर क्यों था? यह तीनों पुस्तिकाओं के समानांतर अध्ययन से बड़े रोचक रूप में सामने आएगा। दूसरे, शिकवा ने मुस्लिम समाज को जिस तरह प्रभावित किया उस का शतांश भी हिन्द स्वराज हिन्दू समाज को नहीं कर सका, मुस्लिम समाज को तो नहीं ही किया। इन पुस्तिकाओं की तुलना के लिए तीसरा बिंदु है उनकी प्रासंगिकता। देश और समाज के लिए भी साथ ही बौद्धिक-दार्शनिक पुनर्मूल्यांकन के लिए भी।

1

जेल से मुक्त होने के बाद 30 मई 1903 को दिया गया श्री अरविन्द का 'उत्तरपाड़ा भाषण' उनके संपूर्ण कृतित्व में एक विशेष, ऐतिहासिक स्थान रखता है। उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त सनातन दृष्टि से राजनीति और नैतिकता के अंतः संबंध की एक आधुनिक प्रस्तुति भी है। वही प्रस्तुति जो भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष रखी थी। नए युग में, जब भारत विदेशी शासकों के अधीन था, श्री अरविन्द ने उसी कर्तव्य को भारतवासियों के समक्ष नई भाषा में रखा था। उसमें देश सेवा के कार्य को निस्संग और निर्भीक होकर, बिना फल की चिंता किए भगवान का कार्य करने के

समान बताया गया है। क्योंकि धरती पर हो रही घटनाएँ भगवान वासुदेव की लीला मात्र हैं जिनमें मनुष्य को अपनी भूमिका पहचाननी और निभानी चाहिए। इस दृष्टि से भारत के उत्थान और उन्नति को विश्व मानवता की मुक्ति का आवश्यक पूर्वाधार कहा गया है। इसी रूप में भारत संपूर्ण विश्व में सबसे अग्रणी देश है। स्वयं ईश्वर ने भारत के लिए यही भूमिका निर्धारित की है।

यदि किन्हीं पाठक को ऐसी बातें किसी हिंदू संत का चलताउ प्रवचन लगे, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीअरविन्द न केवल भारतीय ज्ञान परंपरा अपितु पश्चिमी मनीषा के भी प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने फ्रांसीसी, ब्रिटिश और जर्मन दर्शनों का उनके मूल से अध्ययन किया था। आरंभ से ही उनकी संपूर्ण शिक्षा यूरोप में हुई थी। उसे पूरी करने के बाद, भारत आकर उन्होंने संस्कृत, बंगला आदि सीखी और तब भारतीय मनीषा का गहन अध्ययन किया। श्रीअरविन्द की तुलनात्मक दृष्टि बौद्धिक ज्ञान और क्षमता की उच्चतम श्रेणी में रखी जा सकती है। अतः उनकी बातों को किसी पंडित की भावुक कल्पना या अंध-श्रद्धा कदापि नहीं समझना चाहिए। वह सर्वोच्च बौद्धिक, अकादमिक मानदंडों पर खरी उतरने वाली सामग्री है।

श्रीअरविन्द ने सनातन धर्म को केवल भारत का नहीं, अपितु संपूर्ण मानवता के धर्म के रूप में निरूपित किया था। उनके उत्तरपाड़ा भाषण के शब्दों में,

“यह हिन्दू धर्म केवल इसलिए कहलाता है क्योंकि इसे हिन्दू राष्ट्र ने सुरक्षित रखा है, क्योंकि इस प्रायद्वीप में समुद्र और हिमालय से बने एकांत में यह विकसित हुआ, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर आर्य जाति को इसे युगों-युगों तक बचाए रखने का भार दिया गया। परंतु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बँधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यह सार्वभौमिक धर्म है जो अन्य सभी को जोड़ता है। यदि कोई धर्म सार्वभौम नहीं है तो वह शाश्वत नहीं हो सकता। एक संकीर्ण धर्म, एक मतवादी मजहब, कोई एकांतिक मजहब केवल कुछ समय के लिए रह सकता है और सीमित उद्देश्य के लिए।”

यह हिन्दू धर्म की कोई मनमानी व्याख्या नहीं थी, न ही इसमें साम्राज्यवादी भाव था जो सेमेटिक मजहबों (रिलीजन) का अभिन्न अंग है। सनातन धर्म संपूर्ण मानवता का इसलिए कहा गया है क्योंकि यह निरे भौतिकवाद को नियंत्रित कर सकता है। यह मनुष्य को वास्तव में ईश्वरीय भाव के निकट ला सकता है। ईश्वर तक पहुँचने के जितने भी मार्ग हो सकते हैं, इसमें उन सबका समावेश है। उत्तरपाड़ा भाषण को श्रीअरविन्द ने स्वयं ईश्वर के द्वारा दिए गए संदेश के रूप में रखा था, जो तत्क्षण उन्हें मिला था।

उनके अपने शब्दों में “(जेल में) दिन-प्रतिदिन भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाए और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराया। पहले मेरे अंदर अनेक प्रकार के संदेह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैंड में विदेशी भावों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिन्दू धर्म की बहुत सी बातों को मात्र कल्पना समझता था, यह समझता था कि इस में बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परंतु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिन्दू धर्म के सत्य को, अपने मन में, अपने प्राण में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवित अनुभव हो गए और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता।”

आगे उन्होंने कहा, “उस समय मेरे अंदर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, संदेहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास न था कि भगवान् हैं भी। मैं उन की उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज थी जिस ने मुझे वेद के सत्य की ओर, गीता के सत्य की ओर, हिन्दू धर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महाशक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदांत पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है।”

उन्होंने फिर कहा :

“...(भगवान् की ओर से मुझे) दूसरा संदेश आया, वह इस प्रकार था, “इस एक वर्ष के एकांतवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज दिखाई गई है जिसके बारे में तुम्हें संदेह था, वह है हिन्दू धर्म का सत्य। इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूँ, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य जातियों में मेरा काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी के प्रसार करने के लिए इस जाति को उठा रहा हूँ। यही वह सनातन धर्म है जिसे तुम पहले नहीं जानते थे, किन्तु अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अंदर जो नास्तिकता थी, जो संदेह था उनका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने अंदर और बाहर, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिए हैं और उनसे तुम्हें संतोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपनी जाति को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतंत्रता दे रहा हूँ। अतएव जब कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जाएगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है।...”

आज सौ वर्ष बाद भी उत्तरपाड़ा भाषण का निहितार्थ और शक्ति असंदिग्ध प्रतीत होती है। इसीलिए श्रीअरविन्द उस समय भारत के त्रस्त, पराजित लोगों के प्रेरित करने में, बल्कि संपूर्ण भारतवर्ष को जगाने में, उसका आत्मविश्वास पुनः लौटाने में सफल हुए थे। उन्हें ‘भारतीय राष्ट्रवाद का पैगम्बर’ यों ही नहीं कहा गया था। आज के लिए भी उस संबोधन का मूल संदेश ऊपर के अंतिम अंश में व्यक्त है। यदि भारत को वास्तव में उठाना, जगाना और महान बनाना है तो सनातन धर्म के अतिरिक्त उसका कोई अवलंब नहीं है। शेष सभी छलनाएँ, आसुरी त्रिष्णाएँ और मरीचिका हैं। जिनसे वास्तव में न हमारी आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उन्नति होने वाली है, न वास्तव में सुख-समृद्धि बढ़ने वाली है। चाहे क्षण भर के लिए यह अटपटा लगे, परन्तु हर तरह से गंभीर मनन करने के बाद इस संदेश की सच्चाई महसूस होगी।

ध्यान रहे कि श्रीअरविन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद का कोई नया सिद्धांत नहीं दिया था। अपितु उन्होंने इस देश के एक सनातन सत्य को नए युग में, नई शैली में व्यक्त भर किया था। राष्ट्र की पश्चिमी धारणा के नितान्त विपरीत भारत के सनातन धर्म को भारतीय राष्ट्रवाद के रूप में सफलता पूर्वक प्रस्तुत कर दिया था। अतः यदि सौ वर्ष पूर्व संपूर्ण भारत में श्रीअरविन्द को एक स्वर में भारतीय राष्ट्रवाद का नायक और अग्रदूत माना गया था, तो इसीलिए कि उन्होंने भारतीय समाज की आत्मा को पहचान कर सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय राजनीति का मंत्र दिया था।

“...मैं यह कहता हूँ कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुआ है, उसी को लेकर चलती है और उसी को लेकर पनपती है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस जाति की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश संभव होता तो सनातन धर्म के साथ-साथ इस जाति का विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह संदेश है जो मुझे आपको सुनाना है।”

श्रीअरविन्द ने भारत की महान विरासत पर गर्व पर आधारित विशिष्ट आध्यात्मिक मानव बोध और तदनु रूप हमारे कर्तव्य को ही राष्ट्रवाद के रूप में निरूपित किया। राष्ट्रवाद, मातृभूमि और संस्कृति का यह सिद्धांत कोरी कल्पना या शब्द-जाल नहीं, वरन गहन चिंतन और पश्चिमी तथा भारतीय मनीषा की विशिष्टताओं को आत्मसात करने के बाद दिया गया था।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि पहले स्वयं भारत में राष्ट्रीय स्वर को सशक्त किए बिना इंग्लैंड के लोगों से किसी निवेदन या प्रचार का कोई अर्थ नहीं है (यह हमारी विदेशी नीति, कूटनीति और विदेश-व्यापार के संबंध में आज भी समीचीन है।) श्रीअरविन्द ने वैसे भी, सिद्धांततः, ब्रिटिश लोगों से कोई प्रार्थना न करने का आह्वान किया जिसे वह भिक्षा-नीति का अंग मानते थे। मातृभूमि के लिए त्याग, वैराग्य धारण

करने की प्रेरणा देकर उन्होंने राष्ट्रवादी युवकों के देश-प्रेम को उनके प्रमुख जीवन-उद्देश्य में बदल दिया। यह कैसे संभव हुआ? मात्र इसलिए की श्रीअरविंद ने भारतीय राष्ट्रवाद की आत्मा-सनातन धर्मपर स्वयं को दृढ़ता से आरुढ़ किया था। सिद्धांत और व्यवहार दोनों में। समाचार-पत्र 'वंदे मातरम्' के बाद उनके द्वारा संचालित-संपादित समाचार पत्रों का नाम ही था 'धर्म' एवं 'कर्मयोगी'।

'वंदे मातरम्' और 'धर्म' के पन्नों पर श्रीअरविंद ने देश के लिए एक नया राजनीतिक कार्यक्रम घोषित और विकसित किया। असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, विदेशी वस्तुओं से लेकर विदेशी शिक्षा और अदालतों का बहिष्कार, लोगों के बीच कानूनी विवादों का लोकप्रिय मध्यस्थ के द्वारा निर्णय, आदि इस के प्रमुख अंग थे। श्रीअरविंद की "निष्क्रिय प्रतिरोध" शीर्षक प्रसिद्ध लेखमाला 'वंदे मातरम्' में ही पहली बार प्रकाशित हुई थी।

उन सबको पढ़कर यह सरलता से समझा जा सकता है कि बाद के वर्षों, दशकों में राष्ट्रीय आंदोलन में जो भी सकारात्मक विचार, नारे और कार्यक्रम चले उन सब का व्यवस्थित आवाहन और निरूपण श्रीअरविन्द द्वारा 'वंदे मातरम्' में ही किया जा चुका था। चाहे वह चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह जैसे वीर देश भक्तों के सशस्त्र संघर्ष हों अथवा गांधी का सत्याग्रह, असहयोग आंदोलनसबकी प्रेरणा 'वंदे मातरम्' के पन्नों पर विस्तार से देखी जा सकती है।

श्रीअरविन्द ने जो स्वर उठाया वह साहस और आत्मविश्वास से भरा था। उसमें किसी दयनीयता का लेश-मात्र न था। ब्रिटिश सभ्यता व संस्कृति के समक्ष हीन महसूस करने के बदले उलटे भारतीय सभ्यता-संस्कृति की अतुलनीय श्रेष्ठता उनकी वैचारिकता का दृढ़ आधार था। श्रीअरविंद के शब्दों में, जो आज के लिए भी हू-ब-हू सही हैं, "हम पराए लोगों द्वारा अपने ऊपर हमसे एक निम्न प्रकार की सभ्यता थोपने या किसी अधिक उपयुक्त चीज के बहाने हमें अपनी विरासत से दूर रखने को अस्वीकार करते हैं।" लंबी पराधीनता के कारण भारतीय समाज में आई विकृतियों और कमजोरियों को नोट करते हुए भी उसे ठीक कर लेने की भारत की आंतरिक शक्ति और ऊर्जा के प्रति वह आश्वस्त थे। इस ऐतिहासिक, महान स्वर की महत्ता को आज समझना कठिन हो सकता है, किंतु उसे समझे बिना सनातन धर्म रूपी वास्तविक भारतीय राष्ट्रवाद की महत्ता को समझना भी असंभव होगा।

उत्तरापाड़ा भाषण की शिक्षा यही है कि भारत के पास सांस्कृतिक-राजनीतिक पराधीनता से लड़ने के लिए सबसे अशक्त अवलंब सनातन धर्म ही था और है। श्रीअरविंद ने बिलकुल ठीक पहचाना था। उन्होंने राजनीतिक समेत जीवन के प्रत्येक प्रयोग कर, देश को जगाकर, एक निरूपाय, भीरु भारतीय जानता को रातों-रात निर्भीक, साहसी बना कर दिखाया था। वह शिक्षा भारतवासियों के लिए सर्दव प्रासंगिक है। सनातन धर्म भारत का वह मूलधन है जिससे हमारा सांस्कृतिक-

आध्यात्मिक-भौतिक उत्थान होता रहा है, और जिससे दूर होने, जिसकी अवहेलना करने से हमारा पतन होता है। भारत देश या भारतीय समाज सनातन धर्म से ही निरूपित होता रहा है। जब भी कोई महापुरुष, मनीषी इसे पहचान कर एक आत्मविश्वास पूर्ण, निर्भीक स्वर उठाता है, तब पूरा देश उसका अनुकरण करने के लिए स्वतः उठ खड़ा होता है, अन्यथा नहीं।

इसी कारण श्रीअरविंद भारत में मात्र प्रशासनिक-राजनीतिक परिवर्तन अथवा तथाकथित औद्योगिक 'प्रगति' या 'विकास' के इच्छुक न थे, जिसमें विदेशी संस्कृति, शिक्षा व उसकी बनाई संरचनाओं को यथावत छोड़ दिया जाता। उनके शब्दों में, "पुनर्जीवन शब्दशः पुनर्जन्म ही है, और पुनर्जन्म कोई बौद्धिक क्रिया से नहीं होता। न वह नीति बदलने से, न मशीन बदल देने से, न थैली में धन भर जाने से होता है। बल्कि वह नया हृदय प्राप्त करने से होता है, अपना सब कुछ बलिदान करके माता के माध्यम से पुनः जन्म लेने से होता है।"

श्रीअरविंद ने राजनीति में देश-प्रेम को सर्वप्रमुख प्रेरणा के रूप में प्रतिष्ठित कराया, अथवा कराने का प्रयास किया था। "निष्क्रिय प्रतिरोध" शीर्षक अपने लेख में उन्होंने मातृ-भूमि के प्रति प्रेम का जीवंत चित्रण किया है जिसमें मातृ-भूमि की मिट्टी उसकी नदियों, वायु के स्पर्श, देश-भाषा के स्वर को सुनने से होने वाली सुखद अनुभूति, देश के विगत उत्कर्ष पर गौरव, उसके वर्तमान दुःख से होने वाली पीड़ा, भविष्य के लिए आवेग, और देश के लिए सर्वस्व बलिदान करने में होने वाले सुख, आदि का जीवंत वर्णन है। देश की यह पहचान *वंदे मातरम्* गान की ही एक व्याख्या, अथवा दूसरे शब्दों में उसका वाचन है, जिससे विदेशी सत्ता अत्यधिक परेशान हुई थी। यह समझने की जरूरत है कि देश की इस प्रस्तुति से जो देशभक्ति जगती थी, उससे ब्रिटिश अधिकारी सर्वाधिक घबराते थे। यूरोपीय या मजहबी किस्म के उदार या संकीर्ण राष्ट्रवाद से उन्हें कोई चिंता नहीं होती थी। इसका निहितार्थ मनन करने योग्य है। आज भी यूरोपीय, अमेरिकी वैचारिक-राजनीतिक संस्थाएँ भारत के लिबरल, वामपंथी लेखकों, विद्वानों को बढ़ावा देती हैं। जबकि भारतीय ज्ञान-परंपरा, नितान्त भारतीय दृष्टि के विद्वानों को उपेक्षित, उपहासित करती हैं। यह उसी स्थिति का आधुनिक रूप है, जो सौ वर्ष पहले देखी गई थी।

2

जब 1909 में अल्लामा इकबाल ने अपनी मशहूर रचना शिकवा का पहला पाठ लाहौर के अंजुमन-ए-हिमायते-इस्लाम के हॉल में किया था, तब पूरे हॉल में ही नहीं, पूरे देश में सनसनी फैल गई थी। एम.जे. अकबर के अनुसार तभी से यह भारत के मुसलमानों का कौमी गीत बन गया। *शिकवा* के अधिकारिक परिचय में भी लिखा है, "यह द्विराष्ट्र सिद्धांत का पहला मेनिफेस्टो था जिसे बाद में चौधरी रहमत अली ने विकसित

किया, जिसके आधार पर मुहम्मद अली जिन्ना ने मुसलमानों के लिए एक अलग देश पाकिस्तान बनाया।” तबसे इस रचना की तासीर कम नहीं हुई है।

शिकवा और चार वर्ष बाद लिखी गई उसी की पूरक रचना *जवावे शिकवा* की संप्रेषणीयता जबर्दस्त है। इस में अल्लाह के साथ शायर का संवाद है। पहले इकबाल अल्लाह से शिकायत करते हैं कि सारी दुनिया में हम मुसलमानों ने तुम्हारे नाम पर ही सब कुछ किया। तमाम काफिरों, दूसरे धर्मों को मानने वालों का कत्ल किया, उनकी मूर्तियाँ तोड़ी, उनकी पूरी सभ्यताएँ उजाड़ दी। सिर्फ इसलिए कि वे सब तुम्हारी सत्ता मानें, इस्लाम कबूल करें।

अल्लाह से शिकवा करते इकबाल को उनके ही शब्दों में सुनिए, “तू ही कह दे उखाड़ा दरे-खैबर किसने। शहर कैसर का जो था उसके किया सर किसने? तोड़े मखलूके-खुदावंद के पैकर किसने? काटकर रख दिए, कुफ्रार के लश्कर किसने? किसने ठंडा किया, आतशकद-ए-ईरों को? किसने फिर जिंदा किया तज्किर-ए-यज्दों को?... किसकी तकबीर से दुनिया तिरि बैदार हुई? किसकी हैबत से सनम सहमे हुए रहते थे। मुँह के बल गिरके हुवल्ला-हो-अहद कहते थे...”। (इस विश्व-दृष्टि की तुलना उस विश्व-दृष्टि से कीजिए जो ऊपर श्रीअरविंद के शब्दों से झलकती है। उससे राजनीतिक, दार्शनिक दृष्टि की आमूल भिन्नता के अलावा धर्म और मजहब का मूल-भूत अंतर समझने में भी मदद मिलेगी।)

यह सब कहकर इकबाल शिकायत करते हैं, मगर ऐ अल्लाह, तेरे लिए इतना कुछ करने वाले मुसलमानों को तूने क्या दिया? कुछ भी तो नहीं! उलटे सारी दुनिया में काफिर मजे से रह रहे हैं। उन्हें हूँ और सभी नियामतें यहीं धरती पर मिल रही हैं, जबकि मुसलमानों को जन्त जाने के बाद वह सब मिलने का दिलासा दे रहे हो। यहाँ धरती पर तो वे टाप ही रहे हैं। शायर के ही शब्दों में देखिए, “कहर तो ये है कि काफिर को मिलें हुरोकूसूर और बेचारे मुसलमान को फकत वादा ए हूर।” इन्हीं कारणों से अब काफिर लोग इस्लाम को अतीत की चीज समझते हैं। उनके मंदिरों की मूर्तियाँ भी निडर हो गई हैं। सुनिए, “बुत सनमखानों में कहते हैं कि मुसलमान गए। है उनकी खुशी कि काबे के निगहबान गए। मंजिले-दहर में ऊँटों के हुदीखान गए। अपनी बगलों में दबाए हुए कुरआन गए। खंदःजन कुफ्र है, एहसास तुझे है कि नहीं? अपनी तौहीद का कुछ पास तुझे है कि नहीं?”

इन तरह के शब्दों में अल्लाह को ताना देते इकबाल माँग करते हैं कि वह इस्लाम को दुनिया में फिर ताकतवर बनाने के लिए कुछ करे। इस शिकायत का जवाब देते हुए अल्लाह जवावे-शिकवा में कहते हैं कि मेरे लिए वह सब अभियान चलाने वाले अब हैं ही कहाँ! मेरे नाम पर तलवार उठाने वाले, जेरे-खंजर भी” इस्लाम का संदेश फैलाने वाले, उस के जोर से दुनिया को मुसलमान बनाने वाले रहे ही नहीं। जो मुसलमान हैं वे धरती पर ही भोग-विलास में लग गए हैं। वे देशों, राष्ट्रीयताओं

और फिरकों में बँट गए हैं, उनकी तलवारों को जंग लग गया है, जन्त आकर हूरों की ख्वाहिश करने वाले ही नहीं रहें, अब मुसलमान मरने से डरते हैं, वे रहन-सहन में ईसाइयों, संस्कृति में हिंदुओं और कायरता में यहूदियों जैसे हो गए हैं, वे भारत नामक मूर्ति की पूजा में लग गए हैं, वगैरह वगैरह।

इस प्रकार, इकबाल के अल्लाह सौ वर्ष पहले के मुसलमानों की दुर्बलता दिखाते हुए कहते हैं, “हाथ बेजोर हैं, इल्हाद से दिल खूगर हैं। उम्मीती बाइसे यस्वाइए-पैगंबर हैं। बुतशिकन उठ गए, वाकी जो रहे बुगतर हैं। था ब्राहीम पिदर, और पिसर आजर हैं। वादः आशाम नए, बादः नया, खुम भी नए। हरम-ए-काबा नया, बुत भी नए, तुम भी नए।... वजूअ में तुम हो नसारा, तो तमहुन में हनूद। यह मुसलमाँ हैं जिन्हें देख के शरमाएँ यहूद। बुते हिन्दी की मुहब्बत में ब्रेहमन भी हुए..” (ध्यान दें, सौ वर्ष पहले इस्लामी चिंतक यहूदियों को कायरता का प्रतिरूप समझता था। इजराइल को जुल्मों-सितम का दूसरा नाम समझने वाले बुद्धिजीवी इस पर ध्यान दें कि यहूदी समुदाय को इस्लामी विचारधारा और शक्ति क्या कुछ देती रही है।)

इस प्रकार, आज से सौ वर्ष पहले भारत के सबसे बड़े मुस्लिम चिंतक के लिए भारत पर विदेशी शासन कोई विषय नहीं था। *शिकवा* और *जवावे-शिकवा* की यह संपूर्ण जीवंत चर्चा अपने आप में पूरी तहर साफ है। सारी समस्या और उसका समाधान बिना लाग-लपेट रखा गया है कोई बात इशारों में नहीं, जिसके अर्थ पर माथा-पच्ची करने की जरूरत हो।

भारत के संबंध में अल्लाह से शायर इकबाल की एक ही माँग थी कि यहाँ के हिन्दू धर्मातरित होकर इस्लाम कबूल कर लें। ऐ अल्लाह, “हिन्द के दैरनशीनों को मुसलमाँ कर दे।” पूरी रचना में इकबाल के लिए एक मात्र चिंतनीय विषय था : सारी दुनिया में इस्लामी हुकूमत कैसे कायम हो। कैसे मुसलमानों को कुव्वते-बाजू के भरोसे खड़ा किया जाए, कैसे उसे देशभक्ति रूपी कुफ्र से मुक्त कराया जाए, ताकि वे अपने मजहब को ही सब कुछ समझें और ‘बुते हिन्दी की मुहब्बत’ छोड़ें। यह एक ऐसा बिंदु है जिसे इकबाल ने अन्यत्र भी कई बार दुहराया है कि मुसलमान देश-भक्ति या मातृभूमि से प्रेम की बीमारी से छुटकारा लें। इसके बदले इस्लाम को अपना सब कुछ समझें। शिकवा में इसे जोर देकर इकबाल समझाते हैं, “कौम मजहब से है; मजहब जो नहीं, तुम भी नहीं। जब्बे बाहम जो नहीं, महफिले अंजुम भी नहीं।”

क्या इसी साफगोई के कारण हमारे देश के बौद्धिक संस्थान और संगठन *शिकवा* की शताब्दी चर्चा से कतरा रहे हैं? वैसे लोग भी, जो वैसे सर इकबाल की शान में दोहरे होते रहते हैं। उनके नाम से अकादमियाँ, भवन और पुरस्कार स्थापित करते हैं। तब वे *शिकवा* जैसी क्लासिक रचना की शताब्दी चर्चा क्यों नहीं करते? इसका उत्तर पाना कठिन नहीं है। क्योंकि इस महान रचना की व्याख्या में कोई सेक्यूलर-वामपंथी कीमियागिरी, चालबाजी काम नहीं आएगी। उसे कोई गांधी, नेहरूवादी

मनोहर अर्थ देकर, सुंदर-सी व्याख्या करके भोले-भाले पाठकों, विद्यार्थियों, पत्रकारों के लिए सहज-स्वीकार्य, 'गंगा-जमुनी' बनाने की कोशिश संभव नहीं होगी।

स्मरण रहे, शिकवा किसी मतांध मुल्ला या मौलवी की रचना नहीं थी। इकबाल विश्व स्तर पर बड़े इस्लामी चिंतकों में गिने जाते हैं। अतः उपर्युक्त विचार इस्लामी विद्वता की आधुनिक काल की एक सबसे मशहूर हस्ती के विचार थे। इसलिए इसे गंभीरता से समझने का प्रयास होना चाहिए कि *शिकवा* और *जबावे शिकवा* में आदि से अंत तक जो कहा गया है, वह 'इस्लाम को बदनाम करने वाले' अथवा किन्हीं 'मुट्ठी भर सिरफिरो' की बातें नहीं थी। वह इस्लामी विद्वता की संजीदा प्रस्तुति है, जिसमें पूरी दुनिया में इस्लामी साम्राज्य कायम करने के अलावा न कोई समस्या है, न उस का विकल्प। इसके लिए दूसरे धर्मों को मिटाना, उनके उपासना-प्रतीकों को तोड़ना नष्ट करना आज भी अपरिहार्य माना गया। वह भी केवल तलवार के बल पर। यदि *शिकवा* को आधार मानें तो आज अल-कायदा, तालिबान, इंडियन मुजाहिदीन, आदि संगठन और उनके जिहादी दस्ते ठीक वही काम कर रहे हैं, जिसकी उसमें हसरत की गई थी।

यह भी नहीं कि उन विचारों से आधुनिक मुस्लिम विद्वान अपने को अलग करते हों। बात उल्टी है। उदार कहलाने वाले भारतीय विद्वान रफीक जाकरिया ने इकाबल की इन रचनाओं के लिए हाल में नया आमुख लिया था। इसमें वे *शिकवा* की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इकबाल को 'वृहत्तर मानवतावादी' बताते हैं! इस अर्थ में कि जब सारी दुनिया में इस्लाम कायम हो जाएगा, तो सब भाई-भाई हो जाएंगे। अतः ऐसी कल्पना करने वाला मानवतावादी हुआ! प्रसिद्ध लेखक खुशवंत सिंह ने *शिकवा* का अंग्रेजी अनुवाद करते हुए उस की उतनी ही प्रशंसा की है। आलोचना का कहीं कोई शब्द नहीं। न मुस्लिम विद्वानों की ओर से, न सेक्यूलर, वामपंथी प्रोफेसरों, की ओर से। यानी उसमें जो कहा है, ठीक है। केवल उसे 'मानवतावादी' रूप से समझने की जरूरत है। चूँकि वैसा करना किसी तर्क से सहज नहीं, इसलिए उसकी चर्चा ही न की जाए, यह उपाय अपनाया गया।

पर किसी भी रूप में देखें तो *शिकवा* का फलसफा और अपील आज भी उतनी ही शक्तिशाली है, जितनी सौ वर्ष पहले थी। अतः अन्याय ही है कि अल्लामा इकबाल की सदैव तारीफ करने वाला हमारा राजनीतिक और बौद्धिक वर्ग इसकी शताब्दी नहीं मना रहा है। वह *हिन्द स्वराज* का नाम ले रहा है, पर यह नहीं देखना चाहता है कि एक ही समय, एक ही स्थिति में रहते हुए एक हिन्दू और एक मुस्लिम चिंतक के विचारों, आकांक्षाओं और भविष्य के कार्यक्रमों में इतना विराट अंतर किस आधार पर आता रहा?

यही वह प्रश्न है जिसकी खुली चर्चा करके मुस्लिम समस्या को और भारत-पाकिस्तान के संपूर्ण भेद और झगड़े को समझा जा सकता है। अन्यथा नहीं।

इस्लामी वैचारिकता पर खुला, आलोचनात्मक विमर्श जब तक बंद रहेगा तब तक न भारत, न विश्व की मुस्लिम समस्या को समझना संभव होगा। समाधान तो दूर की बात है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश की वर्तमान प्रचलित बौद्धिकता की टेक ठीक विपरीत है।

3

अब *हिन्द स्वराज* प्रकाशित हुआ था तो उसे पश्चिमी आधुनिकता और उन्नति की भारतीय आलोचना के रूप में ख्याति मिली थी। उसके लेखक मोहनदास गांधी शीघ्र ही भारतीय राजनीति के सबसे बड़े मार्गदर्शक के रूप में स्थापित हुए। अतः यह स्वभाविक होना चाहिए था कि भारत जब पराधीनता से मुक्त हुआ, तब *हिन्द स्वराज* उस के नवनिर्माण का एक आधार होता। किन्तु 1947 के बाद जल्द ही महसूस होने लगा कि उसे दी गई प्रतिष्ठा शाब्दिक थी, व्यवहार में *हिन्द स्वराज* की मान्यताओं और प्रस्तावों को स्वयं गांधी के उत्तराधिकारियों ने ही महत्त्व नहीं दिया। क्या यह केवल उनका ही दोष था, अभी इस प्रश्न को छोड़ दें। किन्तु यह तथ्य है कि पराधीनता से मुक्त होकर भी भारत ने स्वतंत्र बनने का मार्ग नहीं चुना। अर्थात्, विचारों, कानूनों और संस्थाओं के निरूपण में औपनिवेशिक विरासत से मुक्त होकर अपने स्वाधीन निर्माण का कोई लक्ष्य ही नहीं रखा। उन्हीं विदेशी विचारों, कानूनों, विधानों, संरचनाओं पर मात्र भारतीय अधिकारियों की नियुक्ति कर ली गई। गांधी के शब्दों का उपयोग करें तो भारतीय नेतागण अंग्रेजों को हटाकर स्वयं अंग्रेजियत के विश्वस्त कर्मचारी हो गए। बाघ को हटाकर स्वयं बाघ बन गए। ठीक वह चीज हो गए, जिसकी *हिन्द स्वराज* में कठोर निंदा की गई है। देखिए, "हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तार नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंग्लिस्तान कहा जाएगा। यह मेरी कल्पना का स्वराज नहीं है।"

निस्संदेह, सन् 1947 में हम पराधीनता से मुक्त तो हुए, किन्तु हमारे समाज और मन के स्वतंत्र होने की प्रक्रिया आरंभ ही नहीं की गई, जबकि गांधी पिछले तीस वर्ष भारतीय राजनीति के सबसे बड़े मार्गदर्शक और मुख्य कर्ता-धर्ता के रूप में छाए रहे थे। तब यह अघटित कैसे घटा कि गांधी के अनुयायी अंग्रेजों को हटाकर स्वयं अंग्रेजियत के कार्यकारी अधिकारी बन गए? भूल कहाँ हुई? क्या *हिन्द स्वराज* में व्यक्त विचार ही मनमाने और उपयोग में लाने योग्य नहीं थे, अथवा उन्हें लागू करने की प्रक्रिया में गलती हुई? या कि स्वयं उन विचारों के प्रस्तावक और उनके समर्थकों ने उसे गंभीरता से नहीं लिया, और केवल वाक्-विलास के स्तर पर छोड़ दिया? आज के गाँधीवाद, नेहरूवादी आदि तो मौन या मुखर यही संकेत करते हैं कि गांधीजी की बातें पुरातनवादी, कल्पनाविदा थीं। उन्हें अपनाना संभव ही नहीं है, आदि।

यदि हिन्द स्वराज को आज भी पढ़ें तो नहीं लगता कि गाँधी इसे अनुपयुक्त मानते। क्योंकि उसमें भारतीय दृष्टि से की गई पश्चिमी सभ्यता की आलोचना आज भी यथावत सटीक प्रतीत होती है। पश्चिमी लोकतंत्र, अर्थव्यवस्था, जीवन-पद्धति, नैतिक मूल्य आदि पिछले सौ वर्षों में उन्हीं विशेषताओं के साथ मौजूद हैं। इसलिए भारतीय अथवा हिन्दू दृष्टि आज भी उनमें वही कमियाँ पाएगी, जो गांधी जी ने सौ वर्ष पहले देखी थी। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि स्वतंत्र भारत के गांधीवादी-नेहरूवादी कर्णधारों ने व्यवहार में उन्हीं पश्चिमी मूल्यों, संस्थाओं और आचारों-अनाचारों को अपना लिया है। आज गांधी की तस्वीर अपने कार्यालयों में लगाए रखने वाले आधुनिकतावादी बुद्धिजीवी भी निश्चय ही हिन्द स्वराज से पीठ मोड़ चुके हैं। यह दूसरी बात है, चाहे बहुत महत्वपूर्ण भी, कि इस कार्य का आरंभ स्वयं गांधी के (उनके ही शब्दों में) 'उत्तराधिकारी' और सबसे प्रियपात्र जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

धर्मपाल ने ठीक ही लिखा है कि गांधीजी से जो भूलें हुई, उनमें एक यह भी थी कि समय के साथ वह अपनी क्षमता को अधिक करके आँकने लगे थे। साथ ही उन्होंने अपने महत्वपूर्ण सहयोगियों समेत भारतीय उच्च-वर्ग की मानसिक, वैचारिक गिरावट की गहराई को भी ठीक से नहीं आँका था। नेहरू को अपना उत्तराधिकारी बनाना अन्य कारणों के अतिरिक्त इस कारण भी था। नेहरू उसी वर्ग के सहज प्रतिनिधि थे जो मन से पश्चिमीकृत, अर्थात् पश्चिम से पराभूत हो चुका था। यूरोपीय संस्थाओं, नारों और महानुभावों के प्रति नेहरूजी में भारी आकर्षण था। चाहे यह भी विरोधाभासी सत्य है कि वह यूरोपीय मानसिकता और सच्चाइयों को ज्यादा नहीं समझते थे।

इस पर गुरुदत्त ने नेहरू की तुलना मुहल्ले के उस उत्साही बालक से की है जो सड़क पर बाजे-गाजे के साथ आने वाले हर जुलूस में शामिल हो जाता है। यह बड़ी हद तक सच है। वर्ष 1928 ई में सोवियत रूस पर लिखी नेहरू की पुस्तक से लेकर 1964 तक प्रधान मंत्री के रूप में विदेशी नीति, शिक्षा और विकास संबंधी उनके अंतिम वक्तव्यों तक इस कड़वे सत्य को परखा जा सकता है। प्रथम प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने नए भारत को पश्चिमी वामपंथी दिशा दी। यह उससे नितान्त विपरीत था जो भारतीय सभ्यता का स्वभाविक पथ रहा है। आज हमारी कथित उन्नति और कई क्षेत्रों में स्पष्ट दुर्गति का एक मुख्य कारण अंग्रेजी तथा पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण और अपनी भाषा व प्रजा-विरासत की अवहेलना ही है। बौद्धिक रूप में कहें तो ब्रिटिश, अमेरिकी, सोवियत संविधानों और पूरे पश्चिमी सोशल साइंस आदि पर श्रद्धा और उपनिषद, महाभारत, नीति शतक, आदि महत्तम ज्ञान-भंडारों से लेकर *उत्तरपाड़ा भाषण* और *हिन्द स्वराज* तक की उपेक्षा। परिणाम जो बट्टैड रसेल ने कहा था कि आने वाले समय में पूरब और पश्चिम की सभ्यताओं में एक ही अंतर रह जाएगा कि पूरब और भी अधिक पश्चिमी सभ्यता की तरह दिखेगा। यह बात आज

भी भारत की कथित उन्नति पर सटीक लगती है। आज यहाँ किन बातों पर विकास की चर्चा होती है? उन्हीं में जिसे पश्चिमी देशों की बढ़त कहा जाता है—सेक्स, बड़े महानगर, ढेरों पैसा, गरीबी अमीरी का कुरूप किस्म का भेद, बेतहाशा भोगवाद, नई-नई कारें, एयरलाइंस, आरामपसंदगी, तकनीकी खोजें, चुनावी लोकतंत्र आदि। हम समृद्ध भारतवासियों का मन खट्टा नहीं करना चाहते। न ही अकारण शिकायती बन रहे हैं। अपितु केवल ध्यान दिलाना चाह रहे हैं कि हमने लोकतंत्र, उन्नति, समृद्धि आदि के ठीक वही पैमाने अपना लिए हैं जो पश्चिमी-ईसाई सभ्यता के पैमाने हैं। इस तरह हमने *हिन्द स्वराज* के दर्शन को पूरी तरह पीठ दिखा दी है।

यह एक विडंबना ही है कि हिन्द स्वराज के सबसे संजीदा अंश वह हैं जिन्हें हमारे शिक्षित वर्ग के लोग सबसे हास्यास्पद मानते हैं। जैसे, पश्चिमी सभ्यता, रेल, वकीलों और डॉक्टरों की कटुतम आलोचना। साथ ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा का विनाशकारी प्रभाव। चाहे यह ऊपर से विचित्र लगे, पर वास्तव में यही आलोचनाएँ उस पुस्तक के पूरे तर्क-वितर्क में सबसे सधी हुई हैं। संभवतः इसका कारण यह भी हो कि यह गांधी के अपने मौलिक विचार नहीं, बल्कि अधिकांश लेव टॉल्स्टॉय, रस्किन और थोरो जैसे चिंतकों के थे। हिन्द स्वराज की भूमिका में गांधी ने स्वयं लिखा है कि इसमें वर्णित विचार कुछ पुस्तकों को पढ़कर बने हैं। वे पुस्तकें इन्हीं चिंतकों की थी।

इसे भी विडंबना ही कहें कि जिन बातों में गांधी गलत थे, उन्हीं बातों को स्वतंत्र भारत में सत्ताधारियों ने बढ़-चढ़ कर अपनाया। जबकि जिन बिंदुओं पर गांधी ने सत्य पकड़ा था, ठीक उन्हीं की अनके अनुयायियों ने पूरी हेठी की। *हिन्द स्वराज* की सही बातों को ही कूड़ेदान में डाल देना इसका उदाहरण है। पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन और भारत में अंग्रेजी शिक्षा की घातक भूमिका इसके सबसे मूल्यवान अंश हैं जिसके ठीक विपरीत नीतियाँ स्वतंत्र भारत में अपनाई और स्थापित की गईं। यूरोपीय सभ्यता को गांधी ने 'अधर्म' और 'चांडाल सभ्यता' तक कहा जो लोगों को पागल बना रही है। यह 'नुकसानदेह है और उससे यूरोप की प्रजा पामाल होती जा रही है'। उसकी तुलना में उन्होंने भारतीय सभ्यता को अतुलनीय रूप से श्रेष्ठ बताया। *हिन्द स्वराज* में भारतीय दृष्टि से सभ्यता, समानता, सुख, समृद्धि, वैश्विक शांति-सद्भाव की अवधारणा बड़े सरल ढंग से रखी गई है। यदि उसे आधार मानें तो हमारे देश ने अनेक क्षेत्रों में दुर्गति की दिशा में प्रगति की है।

यह सच है कि हिन्द स्वराज में दिखाई गई पश्चिमी सभ्यता की कमियाँ आज भी यथावत हैं। राज्यतंत्र का भारी विस्तार, अन्य सामाजिक संस्थाओं का अभाव या दुर्बल रहना, कानूनी और राजनीतिक प्रक्रियाओं का पैसे के बल पर खुला दुरुपयोग, व्यक्ति स्वतंत्रता के नाम पर उच्छृंखलता, व्यभिचार को मान्यता देना अथवा कोई बड़ी बात न मानना, विवाहों को बेतहाशा टूटना, परिवार का क्षीण होना, व्यक्ति का

एकांकी होना, बूढ़े लोगों को जीवन और परिवार से अलग कर फेंकना, अयोग्य लोगों का सत्तांत्र पर काबिज हो जाना, नस्ली स्वार्थपरता, नशाखोरी और पेट्टून, अनाप-शनाप उपभोगवाद और प्राकृतिक संसाधनों की अंधाधुंध बर्बादी, और इसी को 'विकास' और अर्थव्यवस्था की 'गतिशीलता' समझना, आदि अनेक व्याधियाँ यूरोपीय लोकतंत्रों में देखी जा सकती हैं। देशहित के नाम पर निर्लज्ज स्वार्थपरता तथा दूसरे देशों में मनमाने हस्तक्षेप करना उनकी अन्य कमी है जिसकी समुचित व्याख्या वे कभी नहीं दे पाते। इस तरह, सिद्धांत और व्यवहार में भी यूरोपीय-अमेरिकी लोकतंत्र का एकांगी, भोगवादी, संकीर्ण एवं ईसाई-साम्राज्यवादी रूप देखा जा सकता है। वह उन व्याधियों को दूर नहीं कर सका है जिसे गांधी ने पागलपन कह कर हिन्द स्वराज में रेखांकित किया था। क्योंकि वह उन्हें संकीर्ण विचार-दृष्टि और राजनीतिक तंत्र की देन न समझकर मानव की सामान्य स्थिति बताकर संतोष कर लेता है। यूरोपीय-अमेरिकी विचारधारा के विस्तारवादी मनोभाव को इस्लामी देशों के प्रतिनिधि समझते हैं, इसलिए भी उनके विचारों, संस्थाओं का प्रतिरोध करते रहे हैं।

दुर्भाग्यवश हमारे देश के अधिकांश प्रभावी बुद्धिजीवी अमेरिकी-यूरोपीय सभ्यता के पूर्वग्रहों से प्रायः अनजान हैं। इसीलिए वे नेपाल का विनाश यह सोचकर खुश होते देखते रहे कि वहाँ 'लोकतंत्र' आ रहा है! इसी मतिभ्रम में वे पश्चिमी देशों की भारत संबंधी नीतियों की भी सही समीक्षा नहीं कर पाते। उल्टे लोकतंत्र के नाम पर असंख्य ऐसी नीतियाँ या संस्थाएँ बना डालते हैं जो हमारे हित में नहीं, किन्तु जिनका पश्चिमी संस्थाएँ और हमारे अपने स्वार्थी तत्त्व भी जमकर दुरुपयोग करते हैं। तरह-तरह के विजातीय या निष्फल कानून, मानवाधिकार आयोग, अल्पसंख्यक चिंता संबंधी संस्थान आदि का गठन, सेक्स शिक्षा समेत शिक्षा में तरह-तरह के कुविचारों का प्रसार, आदि अनेक कार्य केवल अंधानुकारण में किए गए हैं। उसमें पश्चिमी एजेंसियों, सरकारों की प्रत्यक्ष भौतिक, कूटनीतिक प्रेरणाएँ भी रहती है। फिर भी हमारे नेता, सांसद क्षण भर भी रुककर विचार नहीं करते हैं यह सब प्रेरणाएँ किन उद्देश्यों से दी जा रही हैं? न यही विचार करते हैं कि हमारे समाज की परंपरा, मान्यताएँ और स्थितियाँ वैसी नहीं हैं जिनके संदर्भ में पश्चिम ने अपने यहाँ वह सब नियम या संस्थाएँ बनाई थी।

इसलिए नेपाल या भूटान में लोकतंत्र आ रहा है, इस पर ताली बजाने से पहले पश्चिमी सभ्यता की अन्य विशेषताओं को भी समझना चाहिए। जैसा धर्मपाल ने रेखांकित किया था, यूरोपीय सभ्यता कुछ इस तरह बनी है कि उस के संपर्क से अधिकांशतः दूसरी सभ्यताओं का नाश हो जाता है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अफ्रीका के कई देशों में तो यह पिछली पाँच शदियों में हुआ ही। उस से पहले भी हुआ कि भारतीय और दूसरी सभ्यताएँ भी मूल अमेरिकी सभ्यताओं की तरह आने वाले समय में समाप्त हो जाएँ। (यहाँ विचारणीय है कि न केवल ब्रिटिश अध्यक्षता में, बल्कि पश्चिमी विचारों वाले हमारे राजनेताओं की सहमति से, उनमें पश्चिमी

किस्म की दलगत राजनीति जमने के उपरांत ही 1947 में भारत का पहली बार वह बिखंडन हुआ जो सदियों की इस्लामी पराधीनता के काल में भी नहीं हुआ था। क्या इसे भी पश्चिमी विचारों का प्रभाव न माना जाए।)

पश्चिमी सभ्यता की इन कमियों के कारण ही गांधी जी ने कहा था कि भारत को अपना आत्मसम्मान लौटाने तथा एक स्वस्थ समाज बनाने के लिए वह सब पूरी तरह भूल जाना होगा जो उसने पिछले सौ वर्षों में यूरोप से सीखा है। यह अटपटा लग सकता है, किन्तु इन बातों को गंभीरता से समझने का प्रयास करना चाहिए। गांधी भारतीय ढंग से रहते थे, भारतीय ढंग की बातें करते थे, किन्तु उन्होंने यूरोप और भारत की तुलनात्मक परंपराओं, मानसिकता और व्यवस्थाओं को अच्छी तरह समझा था। इस अंतर को उनसे अधिक समझने वाले संभवतः केवल श्रीअरविंद ही थे। उनका *भारतीय संस्कृति के आधार* बहुत प्रभावशाली बौद्धिक ग्रंथ है जो *हिन्द स्वराज* वाले युग में ही लिखा गया था।

तब यह कौन-सी मानसिकता है जो एक ओर महात्मा गांधी की जय-जयकार करती, उन्हें अतिरंजित महिमा-मंडित करती है, जबकि उनकी सभी मूलभूत शिक्षाओं, आकांक्षाओं को घूरे पर फेंक कर मुदित होती है।

यह मानसिकता है आत्मसमर्पण और हीनताबोध की। इसे मानो एक नशे के रूप में अंग्रेजी शिक्षा और भाषा के वर्चस्व ने हमारे बुद्धिधर्मी वर्ग के रक्त में पहुंचा दिया है। इस रुग्णावस्था को विदेशों में सफल भारतीयों की बढ़ती गिनती से नहीं छिपाया जा सकता। व्यापार और उद्योग हमारे *राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष* अवश्य हैं, किंतु केंद्रीय तत्व नहीं हैं। केन्द्रीय चीज है: संतोषपूर्ण जीवन एवं भाविक उल्लास, सांस्कृतिक वैभव, नैतिक श्रेष्ठता, आध्यात्मिक परिपूर्ति, सामाजिक सौहार्द व सुख-समृद्धि। यही बात *हिंद स्वराज* में दुहराया भर गई थी। केवल 'लाभ' नहीं, 'शुभ लाभ'।

पश्चिमी यूरोपीय या समेटिक दृष्टि केवल आर्थिक बैलेंस-शीट देखती है, जबकि भारतीय दृष्टि उसे शुभ, कल्याण, लोक मंगल से अभिन्न बनाकर देखती है उसी प्रकार न्याय-अन्याय की धारणा भी केवल संकीर्ण कानूनी व औपचारिक मात्र नहीं, बल्कि नैतिक शुचिता भी उसमें जुड़ी है। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था ही नहीं, राजनीति, शिक्षा जैसे सभी क्षेत्रों में एक गहन मूल्यबोधउचित-अनुचित की धर्म-चेतना युगों-युगों से भारतीय मनीषा अपने ज्ञान और अनुभव से रेखांकित करती रही है। इन बिंदुओं पर हम कहां है? इसकी दयनीय तस्वीर हमारे समाचार-पत्रों की हेड-लाइनें हमें रोज दिखाती हैं।

हम अपनी सभ्यता तथा पहचान भूल रहे हैं। भारतीय सभ्यता हमेशा धर्म, मर्यादा, संयम और इन आधारों के साथ सबके लिए सुख-शांति की मान्यताओं पर टिकी है। धर्मपाल के शब्दों में यह उसका 'मूल स्वभाव' कहा जा सकता है। धर्म रक्षा

के लिए युद्ध भी इसका अंग है। अहिंसा या शांति के नाम पर अन्याय, अत्याचार सहना या देखते रहना भारतीय शिक्षा कभी नहीं रही। यह उन महत्वपूर्ण बिंदुओं में से एक है जहाँ गाँधी ने हमें गलत सीख दी थी।

वस्तुतः *हिंद स्वराज* का मुख्य संदेश किसी राजनीतिक दर्शन या रणनीति की प्रस्तुति नहीं, बल्कि हर हाल में अहिंसा की पैरोकारी है। पूरी पुस्तक पढ़कर ही इसे समझा जा सकता है और स्वयं गाँधी ने भी उसका सार यही बताया था कि यह हिंसा की जगह आत्मबल को खड़ा करती है। पर हिंसा और अहिंसा की गाँधीवादी व्याख्या न केवल सामान्य विवेक, व्यवहार और अनुभव से उचित नहीं प्रतीत होती, बल्कि यह *रामायण* और *महाभारत* की संपूर्ण शिक्षा के नितांत विरुद्ध है। गाँधी ने बाहुबल को पशुबल कहकर लांछित किया है शारीरिक बल एक वरेण्य गुण रहा है उसी तरह अस्त्र-शस्त्र संचालन भी। इसका उपयोग कोई किस उद्देश्य के लिए करता है, वहाँ पर धर्म और अधर्म आता है। अपने आप में न तो अस्त्र शस्त्र, न किसी को मारना ही हमारे शास्त्र, पुराण और लोक में गलत कहा गया है।

स्वयं योगीश्वर कृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर ने भी शस्त्र उठाकर धर्म-रक्षा की थी। मर्यादापुरुषोत्तम राम तो 'शस्त्रधारियों में राम' के रूप में अद्वितीय स्थान रखते ही हैं। फिर, गुरु वशिष्ठ हों या गुरु द्रोणाचार्य, उनकी दी गई शिक्षा-दीक्षा में अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा का प्रमुख स्थान था। किसलिए? क्या वे सत्य अहिंसा और धर्म के महान् ज्ञाता नहीं थे? जैसा श्री अरविन्द ने नोट किया था, गाँधीजी की अहिंसा में ईसाइयत की एक शाखा, टॉल्स्टॉयवादी या रूसी ईसाइयत का प्रभाव था। वह हिंदू अथवा भारतीय विचार नहीं था। हिंद स्वराजका मूल्यांकन करते हुए इसकी इस गंभीर कमी को भी याद रखना चाहिए।

यदि *शिकवा* के प्रसंग में *हिंद स्वराज* की अहिंसा की पैरोकारी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा करें, तो इसकी हानिकारक भूमिका पूरी तरह दिखेगी। गाँधीजी ने अपने शब्दों में, *हिंद स्वराज* "हिंसा की जगह आत्म-बलिदान को रखती है; पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्म-बल को खड़ा करती है" यही उसका मुख्य उद्देश्य और संदेश है। जबकि शिकवा तलवार, खंजर और बाहुबल के बल पर पूरी दुनिया में इस्लामी साम्राज्य कायम करने का आवाहन करता है इसका मुकाबला अहिंसा से कैसे होगा? कोई विदेशी सेना (या जिहादी दस्ते) देश पर आक्रमण कर दें, जैसाकि 1962 में हुआ था तो उसका सामना अहिंसा से कैसे करना है? जहाँ *शिकवा* को पहली बार पढ़ा गया था, उस लाहौर तथा पश्चिमी और पूर्वी भारत के बड़े हिस्से में तो उसने उस आवाहन को सफलता से पूरा भी कर लिया। पाकिस्तान किसी तर्क, कूटनीति या सिद्धांत के बल पर नहीं, विशुद्ध हिंसा के बल के सहारे बना। इसे जिन्ना ने स्वयं स्वीकार किया है।

तब राजनीति और समाज में अहिंसा का सिद्धांत हिंसक के सामने निरुपाय 'आत्म-बलिदान' अथवा सामूहिक आत्महत्या- के सिवा कुछ नहीं रहा जाता। पूर्वी

बंगाल और पश्चिमी पंजाब के लाखों हिंदुओं और सिखों को यही करना पड़ा, क्योंकि वे संगठित हिंसा का प्रतिकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उलटे गाँधी की प्रसिद्ध अहिंसा की महानता के प्रचार से उसके बारे में सोचना भी मानो गाँधी का अपमान करना ही था। ध्यान रहे, तब गाँधी स्वयं रंगमंच पर मौजूद थे। वे तब भी निरंतर अहिंसा का पाठ जिदपूर्वक पढ़ाते रहे जबकि संगठित, सामूहिक, एकतरफा हिंसा बार-बार हो रही थी।

भारत में *शिकवा* के जिहादी सिद्धांत का प्रयोग कोई एकाएक नहीं हुआ था। बंग-भंग के बाद हुए स्वेदशी आंदोलन (1905-09) को दबाने के लिए मुस्लिम गुंडों का उपयोग अंग्रेज सरकार ने किया था। उसके बाद खलीफत आंदोलन के समय मोपला और अन्य स्थानों पर मुस्लिमों ने हिंदुओं का सामूहिक संहार, बलात्कार और धर्मांतरण किया। यह इतनी नृशंसता से हुआ था कि स्वयं गाँधी को मानना पड़ा कि उन्होंने हिंदुओं को झूठा आश्वासन देकर विश्वासघात किया। महादेव भाई के समक्ष अपनी भूल स्वीकार करते हुए गाँधी सन् 1924 में कहते हैं

"मेरी भूल? हाँ, मुझे दोषी कहा जा सकता है कि मैंने हिंदुओं के साथ विश्वासघात किया। मैंने उनसे कहा था कि वे इस्लामी पवित्र स्थानों की रक्षा के लिए अपनी संपत्ति व जीवन मुसलमानों के हाथ में सौंप दें। आज भी मैं उनसे अहिंसा पर चलने के लिए कहता हूँ कि वे मर जाएँ, पर मारें नहीं। और इसके बदले मुझे क्या मिला? कितने मंदिर अपवित्र किए गए? कितनी बहनें मेरे पास अपना दुःख लेकर आईं? जैसा मैं कल हकीमजी (अजमल खाँ) को कह रहा था, हिंदू स्त्रियाँ मुलसमान गुंडों से मर्मांतक रूप से भयभीत हैं। मुझे...का एक पत्र मिला है, मैं कैसे बताऊँ कि उसके छोटे बच्चों के साथ क्या दुराचार किया गया? अब मैं हिंदुओं को कैसे कह सकता हूँ कि वह हर चीज को धैर्य पूर्वक स्वीकार करें? मैंने उन्हें भरोसा दिलाया था कि मुसलमानों के प्रति मैत्री का सुफल प्राप्त होगा। मैंने उन्हें कहा था कि वे बिना परिणामों की इच्छा के मुसलमानों को मित्र बनाने का प्रयास करें। उस भरोसे को पूरा करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। और फिर भी मैं आज भी हिंदुओं से यही कहूँगा कि मारने की अपेक्षा मर जाएँ।"

जैसा परवर्ती इतिहास ने दिखाया, इसके बाद भी गाँधी अहिंसा पर अपनी उसी जिद्द पर बने रहे। किंतु संगठित हिंसा के समक्ष अहिंसा के भरोसे किसी समुदाय के ससम्मान जीने का मार्ग नहीं खोज पाए। वह भूल स्वीकारने के बाद वह चौबीस वर्ष और जीवित, सक्रिय रहे। उसी तुष्टीकरण पर चलते और निरंतर वही फल पाते, जो खलीफत के बाद मिला था। मुस्लिम लीग की धमकियाँ और सड़क पर उतर कर आग लगाने की प्रवृत्ति, जिन्ना का 'डारेक्ट एक्शन', अंततः देश विभाजन और लाखों-लाख हिंदुओं का संहार, विस्थापन और शरणार्थियों में बदल जाना। यह सब तब हुआ जब

कि हर हाल में अहिंसा की टेक रखने का परिणाम देखा जा चुका था कि उससे किसी का हृदय नहीं बदलता।

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इस पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि जिस हिंदू जनता ने गाँधी को महात्मा बनाया, उसके हितों को वह एक-दो मुस्लिम नेताओं की इच्छा पर भी पूरी तरह बलिदान करने के लिए तैयार रहते थे। गाँधीजी के ऐसे कामों की सूची देते हुए डॉ. अंबेडकर लिखते हैं; “केवल यही सब नहीं जो गाँधीजी ने हिंदू-मुस्लिम एकता बनाने के लिए किया। उन्होंने कभी मुसलमानों को उन वृहत अपराधों का हिसाब देने के लिए नहीं कहा जो हिंदू जनता के विरुद्ध किए जाते थे” यह अपराध संगठित हिंसा के ही विविध रूप थे, जिसका गाँधी के सिद्धांत के पास कोई उपाय नहीं था। जो था उसे अकर्मण्यता ही कहा जा सकता है। *हिंद स्वराज* में गाँधी साफ लिखते हैं, जिन्हे वे सदैव दुहराते भी रहे, कि यदि हिंसा पर उतारु कोई व्यक्ति समझने पर भी न माने तो कुछ नहीं किया जा सकता। अहिंसक सत्याग्रही के पास इसके बाद उस हिंसक व्यक्ति को अपने मन की करने और स्वयं मर जाने के अलावा कोई मार्ग नहीं है। इसे, जैसी परिस्थिति हो, किसी के उत्पीड़न को चुपचाप देखना आत्महत्या या अकर्मण्यता के अतिरिक्त कुछ और संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसे कोई महान् विचार मानना चाहे तो माने, किंतु भारतीय धर्म-परंपरा इसकी कहीं अनुशंसा नहीं करती।

किसी भी रूप में देखें तो *शिकवा* के घोषित हिंसा आवाहन के सामने *हिंद स्वराज* में प्रस्तुत अहिंसा समाधान नितांत मिथ्या है। इसे गाँधी भी समझते थे। इसीलिए आग्रह पूर्वक इस प्रश्न को रखने पर वे सदैव यही कहते थे कि मारने की अपेक्षा मर जाएँ। जो उन्होंने 1924 में पहले मोपला के हिंदुओं को कहा, वही उन्होंने 1947 में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल के हिंदुओं को कहा था। यही सलाह उन्होंने ब्रिटेन के लोगों को अपनी ओर से दी जब उन पर हिटलर का आक्रमण आसन्न दिख रहा था। यही उन्होंने यहूदियों के लिए कहा था जिन्हे 1939-1945 के बीच जर्मन नाजियों और रूसी कम्युनिस्टों ने यूरोप में लाखों की संख्या में मौत के घाट उतार दिया। गाँधी की जीवनी लिखने वाले जर्मन लेखक लुई फिशर ने बाद में भी उनसे पूछा कि इतनी बड़ी संख्या में यहूदी मारे गए, क्या उनका हथियार उठाकर हत्यारों का प्रतिकार करना उचित न होता? उत्तर में गाँधी ने कहा, नहीं। यानी वे निरपराध लाखों यहूदी अबाल-वृद्ध-नारी-युवा सभी असहाय मर गए, यही अच्छा हुआ। यदि वे अस्त्र-शस्त्र उठाकर नाजियों या कम्युनिस्टों का प्रतिकार करते तो गलत करते। अर्थात् अहिंसा के लिए सामूहिक, बिना शर्त आत्महत्यायही राजनीतिक व्यवहार में अहिंसा का गाँधीवादी सिद्धांत था।

निस्संदेह, गाँधी की अहिंसा की धारणा भारती धर्म-चिंतन के नितांत विपरीत थी। जो बात किसी संत और सन्यासी के व्यक्तिगत व्यवहार के लिए सही हो सकती

है (जैसा गौतम बुद्ध और अंगुलमाल की कथा से समझा जा सकता है), उसे समाज पर लागू मान लेना एक भयंकर भूल और एकदम भ्रामक जिद्द थी। वह विपरीत परिणाम देने वाला होता है। जैसा लोहिया ने अपने लेख ‘गाँधीजी के दोष’ में लिखा भी है, यदि देश के विभाजन की माँग को डटकर अस्वीकार कर दिया गया होता तो परिणामस्वरूप होने वाली हिंसा बहुत ही कम होती। अतः अहिंसा के नाम पर हर उग्र इस्लामी माँग स्वीकार करते जाने से उलटे और विशाल संख्या में निर्दोष, निहत्थे लोग मारे गए। लोहिया के अनुसार गाँधीजी को यह मालूम था, इसलिए उनका दोष और भी गंभीर हो जाता है।

यदि हिंसा और अहिंसा पर *गीता* और *रामायण* की धर्म-शिक्षा और क्षत्रियों के धर्म को उपेक्षित न किया गया होता तो आत्मरक्षा के लिए, दुष्टों के दलन के लिए और पापियों के संहार के लिए अस्त्र-शस्त्र के उपयोग को स्वीकार किया जाता। तब पिछले सौ वर्ष के भारतीय घटनाक्रम में तुलनात्मक रूप से कोई बड़ी हिंसा ही न होती। क्योंकि किसी अहंकारी हिंसक गिरोह का पता होता कि उसे उसी भाषा में प्रतिरोध मिलेगा। यदि ‘विनाशाय च दुष्कृताम्’, ‘दैत्यवंश निकंदनम्’ और ‘रामेणाभिहता निशाचरम्’ के आदर्श को ऊपर रखा जाता तो 1946-47 में ठीक वही चीज और विराट् पैमाने पर दुहराई न जा सकी होती जिसका ऊपर अपनी भूल स्वीकार करने में गाँधी उल्लेख करते हैं। तब डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे असंख्य विचारशील भारतीयों को हिंदू कायरता पर आंसू न बहाने पड़ते।

यही कारण है कि आज भी नेहरूवादी हों या गाँधीवादी सभी विद्वान, नेता और एकटविस्ट *हिंद स्वराज* और अहिंसा की महानूता के कागजी पुल ही बांधते रहते हैं। वे किसी वास्तविक चोर, आतंकवादी, जिहादी, माओवादी या ‘बुरे आदमी’ से वास्तव में वे दलीलें करने नहीं जाते जो करने की तजवीज *हिंद स्वराज* में बिना शर्त रखी गई है। यह तजवीज कि उस “आदमी के भीतर से बुराई का बीज निकाल दें।” यह सबसे बड़ी विडंबना है कि अपने जिस विचार को गाँधी ने अक्सीर की तरह जीवर भर दुहराया, उसे वह कभी किसी वास्तविक “अदमी” उनके परम मित्र मौलाना मुहम्मद अली, शौकत अली अथवा अब्दुल बारी या जिन्ना आदि के साथ सफल प्रयोग करके नहीं दिखा सके। जब गाँधी ही न दिखा सके, तो स्वाभाविक है कि आज के उनके किसी प्रशंसक या अनुयायी को भी यह नहीं सूझता कि किसी नक्सली या मुजाहिद के “भीतर से वह बीज निकाल देने” की सोचें!

4

तब आज उत्तरपाड़ा भाषण, *शिकवा* और *हिंद स्वराज* का क्या तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है? यह कोई छिपी बात नहीं कि वर्तमान भारत की प्रचलित और

प्रभावी बौद्धिकता सेक्यूलरवार या नेहरुवाद है। मार्क्सवादी, लोहियावादी और गाँधीवादी भी व्यवहारतः नेहरुवादी ही हो चुके हैं। लोहिया ने इस्लामी आक्रमणभाव, अलगावभाव और गाँधी ने ईसाइयत विस्तारभाव के विरुद्ध भी संघर्ष किया था, जिसका उनके शिष्य, आज के लोहियावादी और गाँधीवादी उल्लेख भी नहीं करते! कोई संघर्ष चलना तो दूर रहा। इसके विपरीत जिस हिंदू भाव को गाँधी ने अपना अवलंब और लोहिया ने एक बड़ा प्रेरणा-श्रोत माना, उस पर उनके शिष्य आज मौन रखते हैं। यदि बोलते भी हैं तो उपेक्षा या आरोप के स्वर में ही। इस अर्थ में भी आज भारत की प्रभावी विचारधारा नेहरुवाद ही है।

सत्ता समर्थित होने तथा निरंतर प्रचारित होने के साथ-साथ यह विचारधारा आलसी और अरामपसंद भी है वह कठिन समस्याओं, वैचारिक चुनौतियों से निपटने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं होती। उसे जानने-समझने तक में सुविधा का रास्ता चुनती है। चुनौती देने वाला यदि कटिबद्ध, उग्र या अहंकारी है तो यह चुनौती की ओर देखती ही नहीं। शत्रुसमर्पण की तरह समय बिताना चाहती है। दूसरी ओर, यदि कोई उन चुनौतियों पर ध्यान देने का आग्रह करता है तो उसी को समस्या पैदा करने वाला, झगड़ा बढ़ाने वाला, आदि कहकर दुत्कारा जाता है और यह सब करने में गाँधी को याद किया जाता है। उनकी अहिंसा हमारे नेताओं, बौद्धिकों की अकर्मण्यता के लिए एक मुफीद आधार प्रदान करती है जिसका वे खूब उपयोग करते हैं।

लोहिया के शब्दों में कहें तो इस प्रवृत्ति में 'कायरता' अंतर्निहित है जो सदैव "आत्मसर्पण को सामंजस्य कहती है" और अपनी कायरता व अज्ञान पर एक मोहक पर्दा डाल देती है। सभी सुविधा-भोगियों द्वारा इस विचार-प्रवृत्ति का समर्थन इसलिए भी है कि यह किसी असुविधानजक विचार-विमर्श को यथासंभव टालने में, कोई कठिन निर्णय लेने से बचने में, सुभीता कर देती है।

यह खुली बात है कि आज भारत की प्रभावशाली बौद्धिकता किसी जिहादी या माओवादी मनोवृत्ति से लड़ने की इच्छा नहीं दिखाती। उसे वह तरह-तरह से 'रेशनलाइज' करती है। हर तरह के हिंसक गिरोहों, अलगाववादियों से 'बात-चीत' और 'राजनैतिक समाधान' की पैरोकारी करने का वास्तविक अर्थ यही है। वही बौद्धिकता सनातन धर्म की चेतना पर बल देने को एक समस्या भी मानती है। यानी जिस बात को उत्तरपाड़ा भाषण में हमारा एक मात्र कर्तव्य बताया गया था, ठीक उसी को आज दुत्कारा जाता है। हिंदू जनगण की सहज धर्म-चेतना को ही सांप्रदायिकता कहा जाता है। जबकि इकबाल के शिकवा में प्रस्तुत विचारों को 'वृहत्तर मानववाद' कहा जाता है जिसमें पूरी दुनिया को जेरे-खंजर भी इस्लाम अपनाना होगा। इस बौद्धिकता के दोहरेपन को बहुतेरे लेखक, पत्रकार और नेता अब कमो-बश देखने को मजबूर हुए हैं। चाहे अनिच्छा से ही।

किंतु यह बात अभी तक नहीं मानी जा रही कि स्वतंत्र भारत में 'सेक्यूलरिज्म' की नीतिगत तानाशाही हिंदू भाव के विरुद्ध और हर चीज में इस्लामी पृथकतावाद को अघोषित मान्यता देते हुए अपनाई गई। इसीलिए इसे भी नहीं समझा जा रहा है कि सेक्यूलरिज्म की इस विचित्र भावना का लाभ उठाते हुए ही आज भारत में तरह-तरह के देशी, विदेशी भारत-विरोधी संगठन अलगाववादी, विखंडनवादी, आतंकवादी, विदेशी मिशनरी, संगठित धर्मांतरणवादी, मजहबी विस्तारवादी (या कि वृहत्तर मानवतावादी!) -अपना प्रपंच यहां चारों ओर फैला रहे हैं

यह संयोग नहीं कि उनके द्वारा संचालित अनेक गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) और तरह-तरह के संदिग्ध मानवाधिकारवादी संगठन दिन-रात 'सेक्यूलरिज्म' की चिंता करते रहते हैं। इस चिंताजनक सेक्यूलरिज्म का निरंतर दुरुपयोग देखकर भी हमारे बुद्धिजीवी व नेता कोई समीक्षा करने के लिए तैयार नहीं। उलटे, सनातन धर्म और हिंदू समाज को ही सभी समस्याओं के लिए उत्तरदायी ठहराकर इसे अधिकाधिक लांछित किया जा रहा है। इसी संदर्भ में उत्तरपाड़ा भाषण अथवा हिंद स्वराज में प्रस्तुत विचारों की खुली-छिपी आलोचना को भी लिया जा सकता है।

उदाहरण के लिए सनातन धर्म आधारित वैचारिकता तथा स्वदेशी आंदोलन (1905-1910) की मार्क्सवादियों द्वारा यह आलोचना की जाती है कि उसमें 'हिंदू रुझान' था, और इस प्रकार वह 'सेक्यूलर' न था, और इसलिए उसमें मुसलमान नहीं जुड़े, आदि आदि। इसी आपत्ति के अंतर्गत स्वतंत्र भारत में (मुसलमानों के लिए देश तोड़ कर अलग पाकिस्तान बना लेने के बाद भी!) *वंदे मातरम्* को राष्ट्रगीत नहीं बनाया गया। जबकि तथ्य यह है कि स्वदेशी और *वंदे मातरम्* के बहुत पहले से, सन् 1857 के समय भी मुस्लिम नेता किसी 'भारतीय राष्ट्र' जैसी भावना से जुड़े हुए नहीं थे। उनमें से अधिकांश के लिए इस्लामी जमीन के रूप में ही भारत का कोई अस्तित्व था, उससे पहले या भिन्न भारत के प्रति, या किसी भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति उनकी वैचारिकता में कोई सहानुभूति नहीं थी। इकबाल का शिकवा किसी तात्कालिक आवेग की अभिव्यक्ति नहीं था। वह पिछले कई दशकों से छाई हुई मुस्लिम वैचारिकता की एक तीखी, सधी हुई प्रस्तुति भर थी। उसे श्रीअरविन्द के उत्तरपाड़ा भाषण की प्रतिक्रिया, अथवा किन्हीं हिंदू सांप्रदायिकता का उत्तर समझना निरा भोलापन या अज्ञान होगा।

प्रो. मुशीर उल हक ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इंडिया, 1857-1947* में विस्तार से इसकी विवेचना की है कि किस प्रकार अपने इस्लामी विश्वासों के कारण मुस्लिम नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय प्रतिबद्धता को स्वीकार करना कठिन होता है। किस प्रकार वे मुस्लिम बुद्धिजीवी भी जो देशभक्ति से चालित होते हैं, समय-समय पर विचित्र धर्मसंकट में फंसेते हैं। अतः मुस्लिम समुदाय का भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल न होना एक इस्लामी

समस्या है, जिसका इससे कोई लेना-देना नहीं है कि अन्य समुदाय किस प्रकार की भावना या चेतना रखते हैं। यह आज भी देखा जा सकता है, जब भारत में चारो-ओर सेक्यूलरिज्म की सत्ता है, फिर भी राष्ट्रवादी चिंताओं से मुस्लिम समुदाय की दूरी यथावत है। क्योंकि पूरी दुनिया में मुस्लिम समुदाय की मजहबी मानसिकता ही ऐसी है कि प्रसिद्ध इतिहासकार मुहम्मद मुजीब के शब्दों में, “वह अपने मजहब के बिना तैरने के वजाय महजब के साथ डूबना पंसद करेगा” इसका इस बात से कोई संबंध नहीं है कि श्रीअरविन्द या मोहनदास गाँधी या अरुण शौरी क्या विचार रखते हैं, या नहीं रखते।

भारत के मुस्लिम नेता और बुद्धिजीवी मौलाना हाली लिखित रचना *मुसदस* (1879) और *शिकवा* तथा *जबावे शिकवा* जैसी कृतियों के दीवाने थे। उनका मलाल यह था कि इस्लाम का अजेय विश्व-अभियान, “सातों समंदर सर करने वाला, दीने-हिजाजी का बेबाक बेड़ा, गंगा के दहाने पर आकर डूब गया” (हाली)। मुस्लिम बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीय भावना के बदले पुनः भारत में इस्लामी राज कायम करने की चिंता प्रमुख थी। सर सैयद अहमद सन् 1858-60 में ही कह चुके थे कि हिंदू और मुस्लिम दो कौम हैं जो हमेशा आपस में संघर्षरत रही हैं, और यदि अंग्रेज भारत से चले जाते हैं तो दोनों मिलकर नहीं रह सकते। हिंदुओं और मुसलमानों के दो भिन्न समुदाय होने की बात इतनी सहज, स्वाभाविक मानी जाती थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के संपूर्ण काल में, सन् 1947 तक सभी प्रकार के नेताओं, लेखकों द्वारा हिंदू और मुस्लिम समुदाय के विचारों, परंपराओं, दर्शन-संस्कृति, राजनीतिक प्रवृत्ति, भावनाओं, माँगों, आदि किसी भी बिंदु की चर्चा बड़ी सहजता के साथ की जाती थी।

उस समय तक यह लज्जास्पद झूठा नाटक कोई नहीं करता था जो 1947 के बाद के नेहरूवाद और बुद्धिजीवी वर्ग की अनन्य विशेषता हो गई। यह मिथ्याचार की हिंदू समुदाय जैसी कोई चीज नहीं है, न कोई हिंदू भावना, मनीषा या परंपरा है कि जो है केवल ‘भारतीय’ है, और इस भारतीयता में भी केवल वही तत्त्व गिने जा सकते हैं जिसमें मुसलमान भी सहमत और भागीदार हों। चूंकि इस विचित्र अवधारणा में सनातन धर्म एवं इस्लाम-पूर्व भारत की कोई भी चीज नहीं जोड़ी जा सकती थी, इसलिए सनातन धर्म और हिंदू संस्कृति की उपेक्षा, अवहेलना और अवमानना स्वतंत्र भारत की बौद्धिकता की एक अनिवार्य शर्त बन गई।

अतः सनातन धर्म के प्रति निष्ठा जताने अथवा *वंदे मातरम्* गाने से भारत के मुसलमान राष्ट्रीय आंदोलन से नहीं जुड़े, यह कपट भरा मिथ्याचार है। जिस आंदोलन के लगभग सभी नेता हिंदू और धर्म-प्राण व्यक्ति थे, उनकी भाषा और भाव-भूमि हिंदू होनी सुनिश्चित थी। फिर, उनका विचार ही भारत का पुनर्जीवन और पुनरुत्थान करना था जिसके लिए राजनीतिक स्वतंत्रता एक पूर्वापेक्षा भर थी। अर्थात्, मात्र

राजनीतिक परिवर्तन करना उनका उद्देश्य ही न था जिसके लिए वे अपनी सर्वप्रधान आस्था को छोड़ देते। किंतु उनके विचारों, आवाहनों में कभी भी गैर-हिंदू धर्म-विश्वासियों की उपेक्षा नहीं थी।

श्रीअरविंद राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी आवश्यक मानते थे। यहाँ तक कि वे मुसलमानों के जागरण का तब भी स्वागत करने के लिए तैयार थे, जब कि वे आरंभ में हिंदुओं के विरुद्ध ‘मिस-गाइडेड’ हों। किंतु मुसलमानों को तुष्ट करने के लिए स्वधर्म छोड़ देना उन्हें स्वीकार्य न था। उनका दृढ़ मत था कि उसके परिणाम उलटे होंगे (जो हुए)। अतः हिंदुओं द्वारा सनातन धर्म और अपनी पारंपरिक सदाशयता पर दृढ़ रहकर ही मुसलमानों के साथ व्यवहार किया जाना उचित है। तब राजनीतिक क्षेत्र में जैसा निमंत्रण मिले, उसके लिए तैयार रहना चाहिए। बाद में भी श्रीअरविंद ने दृढ़ता से कहा था “चाटुकारिता से हिंदू-मुस्लिम एकता नहीं बनाई जा सकती।” यह भी कि “तथ्यों की उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं, कभी न कभी हिंदुओं को मुसलमानों से लड़ना पड़ सकता है और इस के लिए उन्हें तैयार होना चाहिए।” पिछले सौ वर्ष के अनुभव ने श्री अरविन्द को कितना सटीक प्रमाणित किया है! न तो देश का विभाजन कर देने समेत सीमाहीन इस्लामी-तुष्टिकरण, न स्वतंत्र भारत के हिंदू-विरोधी सेक्यूलरिज्म न ही तथाकथित वामपंथी प्रगतिवाद ने कभी मुसलमानों को भारतीय राष्ट्रवाद का स्वाभाविक अंग बनाने में सफलता पाई।

अतः हिंदुओं द्वारा स्वधर्म पर दृढ़ रह समान व्यवहार करना ही मुसलमानों में भी यथार्थ विवेक जगा सकता था कि वह बदले हुए समय में अतीत का साम्राज्यवादी अहंकार (जो *शिकवा* में है) और विशेषाधिकार की चाह छोड़कर सच्ची बराबरी के आधार पर विचार करें और तदनुरूप निर्णय लें। यदि हिंदू नेतागण श्रीअरविंद की सलाह अपना सके होते, तो संभवः भारतीय मुसलमानों का विवेक जगा होता और वह इस्लामी समाज के बहुप्रतीक्षित सुधार में दुनिया के मुसलमानों का भी नेतृत्व कर सकते थे। इस विषय में आज भी *उत्तरपाड़ा भाषण* आधारित राष्ट्रीय चेतना ही हमारे भविष्य का एक मात्र संबल हैं। राष्ट्रीय भाव, एकता और चरित्र शक्ति का निर्माण उसी से होगा। हिंदू चरित्र के बिना नाभिकीय हथियार, लाखों की सेना और खरबों का विदेशी मुद्रा भंडार भी हमारे देश को भीरु ही बनाए रखेगा। ऐसा देश जिसे हर कोई आँख दिखा सकता है। मामूली देशी-विदेशी उग्रवादी तक। यह हमारा रोज का अनुभव है।

हिंदू स्वराज से यह जरूर सीखा जा सकता है कि वास्तविक राष्ट्रीय उन्नति तथा आर्थिक, शैक्षिक नव-निर्माण किन्ही विजातीय सिद्धांतों, परिकल्पनाओं, फार्मूलों का अंध-अनुकरण करके नहीं हो सकता। हम अपनी मूल्यवान विरासत को तजकर सब कुछ पश्चिमी तरीके का बनाने में लगे हैं। यह प्रक्रिया 1947 में ही आरंभ हो गई

थी। बल्कि सच तो यह है कि उससे पहले, केवल दौंव-पेंच वाली, सत्ता केन्द्रित राजनीति को ही सर्वस्व मान लेने से ही उसका आरंभ हो गया था। स्वतंत्र होने के बाद अंग्रजों की बनाई गई संस्थाओं को ही यथावत चलने देना उसी का आनुषांगिक परिणाम था। किसे फुर्सत या इच्छा भी थी कि *हिंदू स्वराज* के सभ्यता-आदर्श के अनुरूप राजनीतिक, शैक्षिक तंत्र विकसित करने के बारे में सोचे भी?

भारत में सब कुछ यूरोपीय शासकों के तरीके का चलने देनेबल्कि बाद में भी नए कार्यक्रम, संस्थान, योजनाएँ, विचारणाएँ आदि उन्हीं की नकल करके बनाए जाते रहेका परिणाम वही 'पागलपन' और सामाजिक 'पामाली' होना था, जो यूरोपीय सभ्यता का दुर्गुण है। बल्कि यहाँ उसकी नकल भर होने के कारण उसका रूप भी विकृत हो गया है। स्वतंत्र भारत के छः दशकों की कथित उपलब्धियों, छलनाओं और निराशाओं की सत्यनिष्ठ समीक्षा यही इंगित करेगी। चाहे सोवियत शासन के तरीके (जो नेहरू को अतिप्रिय थे) की तर्ज पर हम अपनी उन्नति और विकास का ढोल स्वयं ही कितना ही क्यों न बजाते रहें, देश के वास्तविक लोगों की, वास्तविक गाँवों और शहरों की, वास्तविक विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की, वास्तविक प्रशासन की स्थिति की निर्मम समीक्षा से इस ढोल की पोल खुलती है। किंतु, पुनः इसे कौन करना चाहता है?

जब *उत्तरपाड़ा भाषण* वाली भावना छोड़कर यूरोपीय संस्थाओं की नकल वाली वोट राजनीति प्रमुख हो गई, तभी से हमारे राजनीतिक वर्ग के लोग भीतर से निर्बल होने लगे। इसका आरंभ लगभग उसी समय से होने लगा था, जब गाँधी जी भारतीय राजनीतिक मंच पर उतर रहे थे। कांग्रेस को 'जनता की पार्टी' बनाने की प्रक्रिया क्या थी? वास्तव में वह वोट की राजनीति की ओर मुड़ने का ही पहला कदम था। कांग्रेस के अधिवेशन में भीड़ एकत्र की जाने लगी, जो उन नीतियों, देश-विदेश की परिस्थिति और तदनु रूप प्रस्तावों को शायद ही कुछ समझती थी जो वहाँ पास किए जाते थे। वह भीड़ केवल अपने पंसद के नेताओं के लिए ताली बजाती थी और उनके विरोधियों को हूट करती थी। यह उस राजनीतिक दर्शन से नितान्त दूर था जिसे *उत्तरपाड़ा भाषण* में प्रस्तुत किया गया था।

स्वदेशी आंदोलन के बाद कई कारणों से भारतीय राजनीति का चरित्र बदलने लगा। यह यूरोपीय किस्म की दलबंदी वाली राजनीति थी जिसके साथ गाँधी कांग्रेस के राजनीतिक मंच पर आए थे। तब से राजनीतिक प्रक्रियाएँ कैसे चली, वह एक स्वतंत्र और विस्तृत विषय है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि देश का विभाजन सहजता से स्वीकार कर लेता मतिहीनता, स्वार्थपरता और निर्बलतातीनों का परिणाम था। यह परिणाम पिछले तीन दशक की राजनीतिक प्रक्रिया से अलग करके देखना संभव नहीं दिखता। उसी प्रक्रिया और आधार पर नए भारत का निर्माण भी शुरु हुआ। इसलिए 'स्वतंत्र' भारत की व्यवस्था वास्तविक रूप से स्वतंत्र नहीं हुई। वह मूलतः

पश्चिम की नकल भर रह गई। केवल राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक संस्थाएँ ही नहीं, बल्कि आचरण, नैतिकता और चरित्र भी।

इन सबके लिए किसी इकबाल, गाँधी या नेहरू को ही दोष देना उचित नहीं होगा। यदि हिंदू समाज, विशेषकर इसका उच्च वर्ग सैकड़ों वर्षों की पराधीनता से जनित मानसिक दासता व उसके अवशेषों में न जकड़ा, भूला होता तो यह कदापि संभव न था कि अपने सबसे बड़े मनीषियों, महापुरुषों के विचारों को नए भारत के राजनीतिक मैनेजर इतनी आसानी से किनारे कर देते। श्री अरविंद या गाँधी ही क्यों, महर्षि दयानंद, बंकिमचंद्र, तिलक, विवेकानंद, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि किन्हीं के किसी भी आधारभूत विचार को स्वतंत्र भारत के विधि-विधान, शिक्षा, अर्थनीति, राजनीति आदि किसी क्षेत्र में स्थान नहीं मिला।

श्री अरविंद की राष्ट्रीय शिक्षा अथवा गाँधी के *हिंदू स्वराज* की एक भी अनुशंसा स्वतंत्र भारत के राजकीय, बौद्धिक दर्शन में स्थान न पा सकी! यह कैसे घटित हुआ? इसके विपरीत 'सेक्यूलरिज्म', 'सोशलिज्म', 'ह्यूमन-राइट्स', 'मल्टी-कल्चरलिज्म' आदि तरह-तरह के विदेशी, अपरीक्षित, अस्पष्ट, अनैतिक विचारों को हमारा मार्गदर्शन सिद्धांत घोषित कर दिया गया। क्यों? कैसे? इस पर भी विचार करें कि भारतीय विद्वान, राजनीति, कूटनीति, सामाजिक व्यवस्था, प्रशासन आदि की जो उत्तरोत्तर दुर्गति होती गई है, क्या उसका इस वैचारिक भीतरघात से कोई संबंध नहीं? आज पाठ्य-पुस्तकों और विद्वत-चर्चा में राष्ट्रवाद, शिक्षा, संस्कृति आदि पर श्री अरविंद के ही नहीं, उपर्युक्त किन्हीं मनीषी के विचारों का उल्लेख तक नहीं मिलता। प्रायः सभी जगह मार्क्सवादी, ईसाई मिशनरी प्रचारकों की परिभाषाएँ व्याख्याएँ ही पढ़ने को मिलती हैं जिसके अनुसार भारतीय राष्ट्र का जन्म ही अंग्रेजों के काल में हुआ, कि भारत के एक औपनिवेशिक, आधुनिक बाजार बनाने की क्रिया से यह एक राष्ट्र बना। इससे पहले वह कुछ नहीं, मात्र भूगोल था!

इस बात को समझने, परखने की आवश्यकता है कि विजातीय, भारतीय सभ्यता, सनातन धर्म विरोधी विचारों, शिक्षा और निर्देशों से ही हमारे राजनीतिक, शैक्षिक तंत्र का वह पतन हुआ है, जो आज सर्वत्र देखा जा सकता है। अपनी भाषा, मनीषा, सभ्यता-संस्कृति के मूलाधार छोड़ने को ही हम आज उन्नति, प्रगति और आधुनिकता कह रहे हैं। यह आत्मघाती प्रवंचना है। पश्चिमी जगत के जनजीवन का वास्तविक मूल्यांकन करके भी इसे समझा जा सकता है। किंतु उसके लिए संसेक्स, 'विकास' और पर-कैपिटल वाले निर्जीव आंकड़ों से आगे बढ़कर सभी जीवित सच्चाइयों को देखना होगा।

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचकों ने पिछले पचास वर्षों में साहित्य की भावनक्षमता और पाठकीय संवेदनशीलता को कुठिल-अवरोधित ही किया है। इन सब ने साहित्य को वाद-विवाद और संवाद के नाम पर बहस का विषय तो बना दिया है, पर साहित्य में डूबकर, गहरे पैठकर प्राप्त की जाने वाली पाठकीय सर्जनात्मकता और उसके दायित्वबोध को बिलकुल दरकिनार कर दिया है। इनके लिए साहित्य का मूल्यांकन निकष केवल वर्ग-भेद पर आधारित समाज और युग है और वह भी राजनीतिक सक्रियता से आन्दोलित है। साहित्य में व्यक्ति, परिवार, बहुआयामी समाज, कालांकित और शाश्वत कालबोध, सर्जक की संवेदनशीलता और पाठकीय संवेदन-क्षमताये सब इनके लिए बेमानी और निरर्थक हैं। यदि साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवाद और जनवाद का नारा देने वाले ये लोग राजनीति में लग गए होते, तो वाम मोर्चा को और ताकत मिल सकती थी और इन्हें भी सार्थकता प्राप्त हो सकती थी। पर इन्होंने साहित्य-क्षेत्र में आकर और यहाँ भी मूलतः आलोचना को चुनकर साहित्य का तो नुकसान किया ही, अपने लिए भी कोई कीर्तिमान स्थापित नहीं किया। कालक्रम में जब-जब साहित्य की संवेदनक्षमता और भावकीय क्षमता की दृष्टि से साहित्य की सटीक पहचान कराने के लिए आलोचकों को याद किया जाएगा, तो वहाँ इनके नाम को स्मरण करने वाला कोई नहीं होगा, क्योंकि ये तो साहित्य के बुनियादी मन्तव्य की ही उपेक्षा करने वाले रहे हैं।

कविता एक ऐसी कला है, जिसे ललित कलाओं के बीच स्थान प्राप्त है। ऐसे में एक प्रश्न मेरे मन में बार-बार उभरता है कि क्या पाँचों ललित कलाओं के बीच कविता जैसी एक कला ही मार्क्सवादियों के लिए समीक्ष्य रह जाती है। आखिर हिन्दी के ये मार्क्सवादी चिन्तक चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, संगीतकला के क्षेत्र में

* 'साईकृपा', 58, लाल एवेन्यू, डाकघररेयॉन ऐंड सिल्क मिल, अमृतसर143005

जनवादी विमर्श क्यों नहीं करना चाहते? चाक्षुष् कलाओं में फिल्म और टी.वी. धारावाहिकों की ओर इनका ध्यान भला क्यों नहीं जा पाता है? क्या इन कलाओं में अन्तर्वस्तु जैसी कोई चीज नहीं होती? क्या ये कलाएँ अपनी अस्मिता में निपट रूपवादी हैं या कि हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षक इन कलाओं से नितान्त अपरिचित हैं? क्या वे इन्हें देखते-सुनते नहीं हैं? क्या फिल्मों, धारावाहिकों से उन्होंने दूरी बना रखी है या कि वे इन सबसे परिचित हैं, इन सबको देखते-सुनते हैं, पर इनको वे अपने विमर्श का, अपने द्वारा की जाने वाली समीक्षा का विषय बनाने से कतराते हैं अथवा वे यह मानते हैं कि मार्क्सवादी, जनवादी चेतना साहित्य में ही अपेक्षित है, अन्य कलाओं में नहीं और हमारे द्वारा जिए जा रहे जीवन में भी नहीं? यह कैसी विडम्बनात्मक स्थिति है कि ये बुद्धिजीवी सर्वहारा के पक्ष में होते हुए भी अपने आचार-व्यवहार से पूँजीवाद का ही विस्तार कर रहे हैं।

आज हिन्दी में ऐसा कोई मार्क्सवादी, जनवादी आलोचक नहीं है, जो सर्वहाराओं और श्रमिकों की लड़ाई साहित्य में तो लड़ने चला है, पर जिसका अपना जीवन किसी बुर्जुआ और पूँजीपति के जीवन से कम है। वस्तुतः वह अपने जीवन में, जीवनशैली में पूँजीपति वर्ग का ही अनुयायी है, यूरोप और अमेरिका के बाजारवाद से मोहग्रस्त है। उपभोक्ता के रूप में पूँजीवादी वर्ग के सदस्यों और उनके बीच कोई अन्तर नहीं है। पर साहित्य में वे पुराने सोवियत संघ और वर्तमान चीन का ही राग अलापते हैं। वे वर्ग-भेद से उत्पन्न नाना प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और प्रश्नों के साथ साहित्य को जोड़ते हैं और समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक उद्देश्य से साहित्य को दस्तावेज की तरह इस्तेमाल करते हुए उसकी निजी अस्मिता पर प्रहार करते हैं।

ये आलोचक साहित्य से सम्बन्धित अन्य मार्क्सवादेतर सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। चाहे वे शास्त्र या सिद्धान्त भारतवर्ष में प्रणीत हुए हों या पश्चिम में प्रवर्तित हुए हों। इनकी दृष्टि में समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए ये सभी बेमानी हैं। वे साहित्य का मूल्यांकन विचारधाराई अन्तर्वस्तु के आधार पर ही करते हैं। पर जिस मार्क्स ने विचारधारा की बात की, उसके विकास के आगामी चरणों में किस सीमा तक उस पर पुनर्विचार किया गया और उसके क्या निष्कर्ष निकाले गए, इन सब की अद्यतनता (Uptodateness) से वे नितान्त अपरिचित हैं। पश्चिम के सिद्धान्त इन्हें कलावादी लगते हैं और भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन भी इन्हें रूपवादिता के कारण असार प्रतीत होता है। ये कविता की पहचान बहस के द्वारा करते हैं और समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के अपने सारे ज्ञानभण्डार से कविता का तालमेल बिठाने का जबरन प्रयास करते हैं। कविता चाहे जैसी हो, पर वे इन सबसे इसे जोड़ने का अथक उद्यम करते हैं। कविता में क्या है उसे ये न तो पढ़ पाते हैं, न सुन पाते हैं और न देख ही पाते हैं। पर वे कविता पर समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय और राजनीतिशास्त्रीय बहु-आयामी व्याख्यान-विन्दुओं को आरोपित अवश्य कर देते हैं।

नतीजा यह होता है कि कविता अपने-आप में खुल नहीं पाती है, पर इन सबका बोझ ढोते-ढोते उसका कवित्व पूरी तरह निष्प्राण अवश्य हो जाता है। इस तरह वे साहित्य में तैराकी भर करते हैं, गोताखोरी नहीं करते।

दुर्योग यह है कि कम-से-कम चार पीढ़ियों से ये लोग अपना शिविर बनाकर प्रतिभासम्पन्न युवाओं को गुमराह कर अपने शिविर में दीक्षित कर रहे हैं। सबसे पहले वे उनकी संवेदनशीलता की बलि चढ़ा देते हैं, जहाँ उन सबका काव्य-विवेक दम तोड़ देता है। इस तरह इससे विमुख कर वे उन्हें कुतर्क और कोरी कल्पना करने में पारंगत बना देते हैं।

हिन्दी के जनवादी कवियों में मुक्तिबोध एक जटिल कवि हैं। पर उनके काव्य की समझ को भी अब तक जनवादी आलोचक खोल नहीं पाए हैं। इन्होंने केवल विचारधारा के आधार पर उनके मूल्यांकन का अपूर्ण प्रयास-मात्र किया है। मुक्तिबोध की एलेगरी (Allegory) उसकी फंतासी, उसकी विडम्बनात्मकता और उसकी संवेदनशीलता को समझने में 'मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना' नामक पोथा लिखने वाले आलोचक भी असफल रहे हैं। मुक्तिबोध स्वयं काव्य-समीक्षा के लिए समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण, सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्य के निजी घटक तत्त्वज्ञान सबको महत्त्व देते हैं। पर मार्क्सवादी, जनवादी आलोचक इन सबकी उपेक्षा कर उस पर केवल सामाजिक यथार्थ को आरोपित करता है।

ऐसे ही एक दूसरे जटिल मार्क्सवादी कवि केदारनाथ सिंह हैं। हिन्दी में इतने सारे जनवादी आलोचक हैं, पर केदारनाथ सिंह की कविता के मर्म को उद्घाटित करने में पुरानी पीढ़ी के मार्क्सवादी तो समर्थ नहीं ही हुए हैं, इधर के परमानन्द श्रीवास्तव और रविभूषण तक भी उनकी कविता की समझ खोलने में असमर्थ ही रहे हैं।

मार्क्सवादी चिन्तकों में सबसे बड़ा अभाव केन्द्रण का है। रचना की समझ के लिए रचना के प्रति समीक्षक का केन्द्रण लाजमी होता है। पर मार्क्सवादी समीक्षक अपसरण की कला में अत्यन्त दक्ष हैं। वे जिस कविता को लेते हैं उसके किसी एक बिन्दु के अभिधेयार्थ को पकड़ कर उससे जीवन के नाना-सन्दर्भों को जोड़ते हुए किसी बाजीगर की तरह अच्छा-खासा तमाशा तो दिखा लेते हैं, पर कविता के मर्म में उनकी पैठ नहीं हो पाती है।

सच्चाई यह है कि हिन्दी के मार्क्सवादी-जनवादी समीक्षक समाज तथा राजनीति पर भी गहराई से विचार करने में असमर्थ रहे हैं। भारतीय समाज में जो समस्याएँ समाज को घुन की तरह खाती चली जा रही हैं, उनकी पहचान तक उन्हें नहीं है। राजनीति जिन कारणों से विगर्हणात्मक स्थिति पर आ गई है, इसकी समझ भी उन्हें नहीं है।

आज मार्क्सवाद में क्लासिकल मार्क्सवाद से आगे नव्य मार्क्सवाद और उत्तर-मार्क्सवाद तक का चिन्तन विद्यमान है। पर हिन्दी के आलोचकों ने न तो

उत्तर-मार्क्सवाद के उभरने की पृष्ठभूमि पर विचार किया है और न ही उसके स्वरूप पर। जैसा हैवेल (Havel) का अभिमत है, उत्तर-मार्क्सवाद मार्क्सवादी चिन्तन और कर्म के प्रति चुनौती बनकर आया है। वास्तविकता यह है कि उत्तर मार्क्सवाद, मार्क्सवाद का ऐसा सातत्य नहीं है, जो उसके अगले विकासात्मक चरण के रूप में उभरता हो, बल्कि यह मार्क्सवाद से सम्बन्ध-विच्छेद करने वाले, उसे तलाक देने वाले रूप में हमारे सामने आता है। सोवियत संघ में मार्क्सवाद के राजनीतिक पतन ने यह सिद्ध कर दिया कि 1989-91 की सोवियत सामाजिक-क्रान्ति एक प्रतिगामी क्रान्ति थी। ऐनिरड एराटो के अनुसार यह वह समय है जब हम क्रान्ति की ऐसी ऐतिहासिक नवीनता का सामना कर रहे हैं, जो आधुनिक क्रान्ति की परम्परा को ही खारिज कर दे रही है। वास्तविकता यह है कि इसने 1917 की रूसी क्रान्ति से आविर्भूत विशेष क्रान्ति-चक्र को ही परिसमाप्त कर दिया। सच्चाई यह है कि उत्तर-मार्क्सवाद राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज-विषयक साम्यवादी दल की एकच्छत्रता के समापन की घोषणा करता है। यह अनेकवादी समाजों के आविर्भाव को मान्यता देता है। यह विद्रोही और सुरक्षात्मक नीति का आमूल पुनर्नवीकरण करता है। आज उत्तर-साम्यवाद एक आन्दोलन भी है और आदर्श भी। यह कोई निषेधात्मक वैचारिकी मात्र नहीं है, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक पुनर्नवीकरण के भविष्य को उजागर करने वाला है। पर हिन्दी के मार्क्सवादी बुद्धिजीवी को इन सब पर सोचने-विचारने का समय कहाँ है? वे इस उत्तर-मार्क्सवाद से अपनी असहमति व्यक्त करने के लिए भी तात्त्विक बहस तक उठाना नहीं चाहते हैं, केवल इसकी अनदेखी कर, उपेक्षा कर जड़ मार्क्सवाद की कूपमंडूकता में दादुर की तरह परस्पर 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' का उच्चार करते जाते हैं।

आज सम्प्रदायवाद से मुक्त होने के लिए जिस धर्म-निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसकी समस्या का समाधान प्राथमिक और बुनियादी स्तर की शिक्षा में निहित है, इसे भी वे नहीं समझ पाते हैं। इसी तरह राजनीति एक शुद्ध सेवा है : समाज की, देश की और राष्ट्र की, जिसका वह दायित्व वहन करती है। पर यहाँ अपराधीकरण का चरित्र सबसे बड़े संकट की स्थिति है। सही राजनीति में स्वहित नहीं होता, वर्गहित नहीं होता, इसके विपरीत सम्पूर्ण समाज और देश का हित होता है। सही राजनीति सत्ता-केन्द्रित नहीं होती, सिद्धान्तों में समझौत करने वाली नहीं होती। पर हिन्दी के इन बुद्धिजीवी आलोचकों को ये चीजें कभी नजर नहीं आती है। वर्तमान राजनीतिक दलों को अपनी गद्दी व्यवस्थित रखने के लिए, अपना वोट-बैंक बनाए रखने के लिए जिस तरह अल्पसंख्यक धर्मों और बहुसंख्यक आरक्षित जातियों के साथ सदैव बने रहने की अपेक्षा अनुभव होती है वैसा ही कुछ मार्क्सवादी साहित्यालोचकों में भी दलित आन्दोलन, स्त्री-आन्दोलन चलाने तथा अल्पसंख्यक धर्मों के पक्ष में बोलने की सोदेश्यता नजर आती है। मनुष्य की मृत्यु पर मनुष्य के पक्ष में कोई नहीं बोलता, पर

उसे एक ईसाई की मृत्यु बता कर सारे देश में कोहराम मचाया जाता है, मुसलमानों की मौत पर प्रतिक्रियात्मक दंगे शुरू कराए जाते हैं। धर्म के विरुद्ध टिप्पणी करने पर उग्र आन्दोलन चालू हो जाते हैं। राज्य सरकार की ओर से धर्म के न्यासों को दी गई जमीन विरोधी आन्दोलन खड़े करने पर वापिस ले ली जाती है। सैकड़ों मन्दिर टूटते हैं, पर मार्क्सवादी बुद्धिजीवी शान्त बने रहते हैं। एक पूरे राज्य से हिन्दुओं को निष्कासित कर दिए जाने के बाद भी ये मौन रहे हैं। वहाँ सामान्य स्थिति लौटने पर भी उनके पुनर्वास की व्यवस्था के लिए ये आवाज नहीं उठाते। फिर भी हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी अपने-आपको बुद्धिजीवी और मानवतावादी कहते हैं। सत्य यह है कि मैंने आज तक एक भी ऐसा मार्क्सवादी बुद्धिजीवी नहीं देखा, जिसके लिए देश में होने वाली मानवी हत्या एक इन्सान की हत्या हो, चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो। उसे तो इन्सान की हत्या और मृत्यु के रूप में ही देखा जाना चाहिए और यह संकल्प लिया जाना चाहिए कि हम किसी भी इन्सान को इस तरह मरने नहीं देंगे। पर ऐसा नहीं हो पाया है। बहुसंख्यकों की मृत्यु पर ये बुद्धिजीवी खामोश रहते हैं, पर अल्पसंख्यकों की मृत्यु पर ये बोलकर और लिखकर लगातार अपना विरोधी स्वर मुखर करते रहते हैं।

आज संचार-माध्यमों को यह समझाने की आवश्यकता है कि हम जो कुछ प्रसारित करते हैं उसमें नैतिक बौध का होना आवश्यक है। पर मार्क्सवादी विचारधारा से अभिप्रेरित लोग बीते युग के गड़े मुर्दे ही खोद सकते हैं। ये बनारस और वृन्दावन की विधवाओं के यौन-शोषण पर फिल्म निर्माण के पक्ष में बोलते हैं। पर महानगरों के क्लबों में और मॉडलिंग में आज जो अति उन्मुक्त काम यौन संस्कृति उभर कर आई है वह पुरानी गणिका-प्रथा से सौ गुना आगे जा चुकी है, इस ओर किसी मार्क्सवादी बुद्धिजीवी का ध्यान नहीं जा पाता है। वास्तविकता यह है कि मार्क्सवादियों के लिए साहित्य खाने-पीने का एक जरिया भर है। अपने-आप को चर्चा में बनाए रखने का माध्यम मात्र है। साहित्य जितनी गम्भीर सर्जना है उतना ही सहृदयत्व, उतनी ही संवेदनशीलता, उतनी ही चिन्तनात्मकता इन मार्क्सवादी आलोचकों में होनी चाहिए थी। पर लगता है कि यह सब हिन्दी के मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और आलोचकों के वश की बात नहीं है।

साम्यवादी सिद्धान्त और रामचन्द्र शुक्ल

सदानन्द प्रसाद गुप्त*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी साहित्य के ऐसे स्वतंत्रचेत्रा आलोचक चिन्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं, जो अपने तिरोधान के लगभग सत्तर वर्ष बाद भी आलोचना के सिंहासन के 'मध्यभाग' में विराजमान हैं। यह भी विभिन्न रूप से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारतीय भाषा-साहित्य में शुक्लजी जैसे गम्भीर, अध्ययनशील, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि सम्पन्न एवं 'मर्मग्राहिणी प्रज्ञा' युक्त आलोचक उंगलियों पर गिने जाने योग्य हैं। डॉ. शिवकुमार मिश्र का यह कहना एकदम युक्तिसंगत है कि 'आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल युग प्रवर्तक व्यक्ति हैं तो इसलिए कि हिन्दी आलोचना पहली बार उनके यहाँ अपने आलोचना नाम को चरितार्थ करती है।... कालिदास के सन्दर्भ में कही गई 'अनामिका सार्थवती वभूव' की भाँति आचार्य शुक्ल के कृतित्व में आलोचना भी सार्थवती ही होती है।' आज भी आचार्य शुक्ल की समकक्षता का दावा करने वाला आलोचक कोई नहीं है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' नामक पुस्तक में नन्ददुलारे वाजपेयी की टिप्पणी बहुत ही सार्थक प्रतीत होती है—'शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्धजाग्रत साहित्य चेतना को दिशा ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंजिल तय किए।' मलयज की यह मीमांसा भी अत्यन्त अर्थवान है कि शुक्लजी के समय में साहित्य मनोविनोद या कलावार्ता का विषय बना हुआ था, उन्होंने उसे गम्भीर नैतिक दायित्व से युक्त किया, उसे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की जीवंतता से सामयिक और अर्थवान बनाया।¹ वे आगे लिखते हैं—'शुक्लजी ने यह काम भी किया कि उनके समय में जो आलोचना रचना से बहुत दूर पर पीछे घिसट रही थी उसे रचना के समकक्ष पहुँचा दिया।'³

* प्रो. सदानन्द प्र. गुप्तहिन्दी विभाग दी.द.उ.गो.वि.वि., गोरखपुर।

आचार्य शुक्ल के चिन्तन में यथार्थ और आदर्श का अद्भुत सामंजस्य है। आदर्श पर उनकी आस्था है और यथार्थ के प्रति स्वीकार। गोस्वामी तुलसीदास की तरह वे भी यह मानते हैं कि यह संसार गुण दोषमय है, मूल्यबोध जरूर सत् के पक्ष में झुका हुआ है। शुक्लजी की यह दृढ़ मान्यता थी कि आदर्श लोक हमेशा साध्य है और रहेगा।¹⁴ शुक्लजी की यही दृष्टि उन्हें प्रयत्नपक्ष के प्रति आस्थावान बनाती है। इसका तात्पर्य यह भी है कि काल विशेष के लिए जो लोक-व्यवस्था स्थापित की जाएगी, वह कालांतर में भीतरी विकृतियों या बाहरी चुनौतियों के कारण अपर्याप्त सिद्ध हो सकती है, उस स्थिति में उसे बदलना और नई व्यवस्था बनाना ही लोक मंगल के अनुरूप होगा। आचार्य शुक्ल का दर्शन गतिशील दर्शन है, जड़ दर्शन नहीं। शुक्लजी अपने युग पर पैनी निगाह रखनेवाले चिन्तक साहित्यकार थे। उनका युग स्वतंत्रता-संघर्ष का युग था। वे ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिससे भारत की राष्ट्रीय अस्मिता सुरक्षित रहे और वह विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सके। उनके मन में अपने समय के भारत की पराधीन स्थिति के प्रति गहरी पीड़ा थी—“उसी भारतवर्ष को जहाँ से किसी समय में भूमण्डल की सभ्य जातियों को सदाचरण और धर्म की शिक्षा मिलती थी, आज काल ने दारिद्र्य, अज्ञान और मूर्खता के साथ वय कर दिया है।”¹⁵ इसी सन्दर्भ में उन्होंने What has India to do (भारत को क्या करना चाहिए) नामक निबन्ध लिखा था। इस निबन्ध में वे अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति को बदलने का आह्वान करते हैं। वे इसके लिए एक साथ समाज सुधारक, आन्दोलनकर्ता, कवि, शिक्षाविद् की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। इससे पता चलता है कि अपने समय की नब्ज पर उनकी पकड़ कितनी मजबूत थी। वे अपने समय के विश्व में उठ रहे सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आंदोलनों से परिचित थे और सूक्ष्म दृष्टि से उसका निरीक्षण परीक्षण भी कर रहे थे। शुक्लजी का लेखनकाल विश्वपटल पर कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रसार का काल भी है। इसके मूल में कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विचार रहा है। भारतवर्ष पर भी इस विचारधारा का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। यहाँ के साहित्यकार, सामाजिक, राजनीतिक चिन्तक एवं संस्कृतिकर्मी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव में आए। अपनी काव्य रचना के क्रम में छायावाद के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत का झुकाव इसकी ओर हुआ। फलस्वरूप ‘युगांत’ ‘युगवाणी’ एवं ‘ग्राम्या’ काव्य-संग्रहों की कविताएँ कम्युनिज्म के प्रभाव में रची गईं। प्रेमचंद ने भी बोल्शेविक क्रान्ति की प्रशंसा की। मार्क्सवाद के शोषण के विरुद्ध क्रान्ति के नारे का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी-साहित्य में चला ‘प्रगतिवाद’ नामक आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। किंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का लेखन मार्क्सवादी विचारधारा से बिलकुल अप्रभावित रहा, बल्कि यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त की तीखी आलोचना की। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक

आलोचना में इसकी विसंगतियों को उजागर किया। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि आचार्य शुक्ल संकीर्ण राष्ट्रीय विचारों के बन्दी थे। उन्होंने तो खुलकर विदेशी विचारों की समीक्षा की और उसे स्वीकृति भी प्रदान की। एडिसन के ‘प्लेजर्स ऑव इमेजिनेशन’ और हैकल की प्रसिद्ध पुस्तक ‘रिडल ऑव दि यूनिवर्स’ का अनुवाद उन्होंने किया। अपने आलोचना सिद्धान्तों में उन्होंने शैण्ड, एडिसन एवरक्राम्बी और आई.ए. रिचर्ड्स को मान्यता दी। वस्तुतः वे सम्यक् दृष्टि के पक्षपाती थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—“विदेशी संस्कृति के देश में कुछ गहराई तक फैलने से विदेशी दृष्टि से अपने यहाँ की बातों को देखने का रिवाज इतिहास, काव्य आदि में भी थोड़ा बहुत पाया जाता है। शुद्ध ज्ञान के प्रकरण में तो सम्यक् दृष्टि चाहिए न देशी, न विदेशी।”⁷

आचार्य शुक्ल ने ‘चिन्तामणि’, ‘गोस्वामी तुलसीदास’, ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’, में स्थान-स्थान पर मार्क्सवादी विचारधारा के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ की हैं। शुक्लजी ने यह अनुभव किया था मार्क्सवादी विचारधारा भारतीय परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। मलयज लिखते हैं—आधुनिकता के आरोपण के साथ एक और चीज से शुक्लजी को एतराज है वह है योरप का साम्यवादी सिद्धान्त। शुक्लजी ऐसा मानते से लगते हैं कि यह सिद्धान्त हमारे साहित्य के स्वाभाविक विकास में बाधक है।⁸ वस्तुतः शुक्लजी की सतर्क दृष्टि ने साम्यवादी सिद्धान्त के अन्तर्विरोध एवं खोखलेपन को पहचान लिया था। इसलिए उसे भारतीय परिवेश और भारतीय प्रकृति के विरुद्ध पाकर अपनी विचारधारा को उससे अप्रभावित रहने दिया। यह उनकी स्वतंत्र दृष्टि और प्रज्ञा का परिचायक है। आचार्य शुक्ल साम्यवादी सिद्धान्त के पाखण्ड पर चोट करते हुए लिखते हैं—“एक दूसरा आता है जो दयावाले सिद्धान्त के विरुद्ध योरप का साम्यवादी सिद्धान्त ला भिड़ता है और कहता है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्च वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है। वह बड़े जोश के साथ सूचित करता है कि इस मनोवृत्ति का समर्थन करनेवाला साहित्य हमें नहीं चाहिए, हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए जो पददलित अकिञ्चनों में रोष, विद्रोह और आत्म गौरव का संचार करे और उच्चवर्ग के लोगों में नैराश्य, लज्जा और ग्लानि का।”⁹

शुक्लजी का भारतीय चिन्तन पद्धति एवं जीवन दृष्टि में गहरा विश्वास है। भारतीय जीवन दृष्टि प्रकृति में व्याप्त अनेकरूपता विविधता को महत्त्व देती है। इसीलिए वे साहित्य में विविधता और सामंजस्य पर अधिक बल देते हैं। उपनिषदों में संसार के लिए विशेषण ही प्रचलित है—“नाना नाम रुपात्मकं जगत्।” आचार्य शुक्ल भी इसे स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में ‘भय’ नामक निबन्ध में शुक्लजी का यह कथन ध्यातव्य है—“एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और

सामाजिक व्यवस्थाएकाशाही से लेकर साम्यवाद तक इस दोरंगी झलक को दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना ऐसी परिस्थिति का स्वप्न जिसमें सुख-ही-सुख, प्रेम ही प्रेम हो या तो लम्बी चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है।¹⁰ सच यह है कि सामी मजहबी व्यवस्था की तरह साम्यवादी व्यवस्था में भी एकरूपता पर बल दिया जाता है जहाँ प्रस्तावित व्यवस्था अन्तिम और अपरिवर्तनीय होती है और उसे मानने वालों को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि उसमें किसी प्रकार का संशोधन कर सकें और न माननेवालों को यह अधिकार दिया जाता है कि वे जी सकें। यह अधिनायकवादी चरित्र है जो मनुष्यता के विकास की दृष्टि से अत्यन्त घातक है। इसलिए यदि शुक्लजी ने इस व्यवस्था को स्वीकृति नहीं दी तो उचित ही है। जो आचार्य शुक्ल के कथन का मर्म नहीं समझते वे यह कह सकते हैं कि शुक्ल जी समाज में व्याप्त विषमता का समर्थन कर रहे हैं और आर्थिक शोषण को स्वीकृति दे रहे हैं। पर मलयज इस आरोप को खारिज करते हैं—“उपरोक्त उद्धरण से यह नहीं सिद्ध होता है कि शुक्लजी व्यक्ति विषमता के, आर्थिक सामाजिक विषमता और तज्जनित एक के दूसरे द्वारा शोषण के हिमायती थे। वे यहाँ भी सच्चे अर्थों में भारतीय मूल्यों में आस्था रखनेवाले एक मनीषी ठहरते हैं। वे अन्याय और शोषण का विरोध करते हैं, पर आधुनिक राजनीति विज्ञान की धारणा में नहीं, उसी परम्परागत भारतीय मूल्य की कसौटी पर... शुक्लजी कर्म संघर्ष में विश्वास रखते हैं और इसकी शक्ति उन्हें राम आदि के चरित्र (भारतीय परम्परा) में मिलती है।”¹¹ इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने किसी भी बाह्य विचारधारा या दर्शन की निर्ममता से पड़ताल की है और भारतीय परम्परा और परिवेश के अनुकूल न पाकर उसे अस्वीकार करने का साहस दिखाया है। यह उनके सजग बौद्धिक चरित्र का प्रमाण है ही, जातीय स्वाभिमान और स्वरूप की रक्षा का प्रयत्न भी।

आचार्य शुक्ल की साम्यवादी चिन्तन पद्धति और उसके अंतर्विरोधों की गहरी समझ का पता हमें तब भी चलता है जब शुक्लजी ‘गोस्वामी तुलसीदास’ पुस्तक में ‘लोकनीति और मर्यादावाद’ वाले निबन्ध में भारतीय वर्ण-व्यवस्था और सोवियत संघ की समाज व्यवस्था में प्रचलित श्रेणियों में समन्वय को पूर्व सोवियत संघ की समाज व्यवस्था के आदर्श से अधिक महत्त्व देते हैं और उसे ही काम्य बताते हैं। इस प्रसंग में ऊँची-नीची श्रेणियों के लोगों के कर्तव्य बोध में आई शिथिलता पर प्रहार करना नहीं चूकते, पर किसी भी समस्या का समाधान आंतरिक रूप में करना चाहते हैं और बाह्य हस्तक्षेप को अनावश्यक समझते हैं। शुक्लजी यह मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था के रूप में किए गए इस श्रेणी विभाजन में समाज के प्रति कर्तव्य का भार हमेशा ऊँची श्रेणियों

पर अधिक रहता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिए अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की माया कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर विशेष पर अपना सर्वस्वअपने प्राण तक छोड़ने के लिए उद्यत होना पड़ता था। शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या परिवारिक सुख की व्यवस्था के लिए सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था।¹² वस्तुतः श्रेणी विभाजन समाज की व्यवस्था की सचाई है। न अतीत में कोई ऐसी व्यवस्था पूरी दुनिया में थी, जब कोई श्रेणी नहीं थी, न ही वर्तमान समाज व्यवस्था श्रेणी विहीन कही जा सकती है और न ही भविष्य में भी ऐसा कोई समाज बनेगा जो श्रेणी विहीन होगा। इस श्रेणीबद्ध समाज में आवश्यकता इस बात की है कि उसमें समन्वय बना रहे और इसके लिए जरूरी यह है कि ऊँची श्रेणी के लोगों में अधिकार बोध गौण और कर्तव्य बोध प्रबल हो। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल क्या कहते हैं, यह ध्यान देने योग्य हैजब तक उच्च श्रेणियों में कर्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगेतब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। ...जब कर्तव्य भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार भाग ज्यों का त्यों रहेगा तब स्थिति विधातिनी विषमता उत्पन्न होगी। ऊँची श्रेणियों के अधिकार प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख में ही समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें।¹³ तत्कालीन सोवियत रुस में हुए परिवर्तन को शुक्लजी अपनी सतर्क दृष्टि से देख रहे थे। उन्होंने उसपर टिप्पणी करते हुए लिखा—“ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट-व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ, जिससे लाभ उठाकर ‘लेनिन’ अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित ‘महात्म्य’ का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है।”¹⁴ शुक्लजी यह मानते हैं कि जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कला कौशल, बल, बुद्धि के असमान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी; प्रतिभा का विकास कभी नहीं रहेगा। रुस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्प शक्ति वालों की अहंकार वृत्ति को तुष्ट करनेवाला ‘साम्य’ शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।¹⁵ यहाँ शुक्लजी बहुत ही बारीकी से रुस की साम्यवादी व्यवस्था की खामियों को देख रहे हैं और उसे प्रत्यक्ष कर रहे हैं। साम्यवादी व्यवस्था वर्गवादी चेतना पर आधृत है, वहाँ समन्वय नहीं संघर्ष की चेतना है, जो घृणा और द्वेष पर आधृत है। इसीलिए शुक्लजी इसे काम्य नहीं मानते। आचार्य शुक्ल ने यह भी देख लिया था कि रुसी साम्यवाद का पर्यवसान अधिनायकवाद में होना है, वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का गला

घोंट दिया जाना है, समाज को एक साँचे में ढल जाना है। इसीलिए जब वे गोस्वामी तुलसीदास के लोकवाद से उसकी तुलना करते हैं तो रुसी साम्यवाद से स्पष्ट असहमति व्यक्त करते हैं—“गोस्वामीजी का लोकवाद वह लोकवाद नहीं है जिसका अकाण्ड ताण्डव रुस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी नहीं हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक सम्बन्धों का सामंजस्य बना रहे।”¹⁶ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी की इस मान्यता का समर्थन किया है—“यहाँ एकदम दो टूक शब्दों में आचार्य शुक्ल भारत की परम्परागत और सोवियत रुस की नई समाज व्यवस्था की तुलना करते हुए तुलसी द्वारा अंकित ऊँची-नीची श्रेणी के समन्वय को अधिक काम्य मानते हैं बजाए लेनिन द्वारा प्रचारित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के। लेनिन के विरुद्ध ‘ग्रेट’ (महात्मा) पर कठोर व्यंग्य करते हुए यहाँ आलोचक सोवियत व्यवस्था को ‘घोर अमंगल का सूचक’ मानता है। क्लैसिक कृति और व्यापक वर्तमान जीवन के सम्बन्धों पर यह दृष्टिपात हिन्दी लेखक की सघन बौद्धिक सजगता का परिचायक है।”¹⁷ वे आगे लिखते हैं—“सोवियत क्रान्ति और साम्यवादी विचारधारा से जिसके मोहक स्वप्नलोक ने उस समय संसार के न जाने कितने लेखकों/विचारकों को पकड़ा था आचार्य शुक्ल एकदम अप्रभावित बने रहते हैं, उससे स्पष्ट असहमति व्यक्त करते हैं।”¹⁸

आचार्य शुक्ल द्वारा साम्यवादी सिद्धान्त का अस्वीकार एकदम युक्तिसंगत था। इतिहास के घटनाक्रम ने शुक्लजी द्वारा किए गए आकलन को सही सिद्ध कर दिया है। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने समाज के एक वर्ग के प्रति घृणा और द्वेष को जन्म दिया तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व का सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव के अधिनायकत्व में बदल गया जिससे क्रूर दमन की शुरुआत हुई। रुस तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के घटनाक्रम से यह साबित भी हो गया। आचार्य शुक्ल वर्ग संघर्ष के स्थान पर मूल्य संघर्ष को महत्त्व देते हैं। वे वर्ग विभक्त समाज में शोषक और शोषित वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा के समर्थक नहीं हैं। अपने ‘हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य की वर्तमान गति : तृतीय उत्थान’ के अंतर्गत जहाँ उपन्यास कहानी के विकास की चर्चा करते हैं वहाँ शुक्लजी साम्यवादी वर्ग चेतना के विपरीत व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। वे दो प्रतिशत बड़े ताल्लुकेदारों को छोड़कर अठानवे प्रतिशत किसान और जमींदारों को एक साथ रखते हैं तथा सरकार एवं शहरी व्यापारियों द्वारा उनके शोषण की चर्चा करते हुए साहित्यकारों से आग्रह करते हैं कि उपन्यासकार किसी राजनीतिक नारे के फेर में न पड़ते हुए देश के वर्तमान जीवन का

प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करें। वे दो टूक शब्दों में कहते हैं कि “साहित्य को राजीनति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।”¹⁹ आचार्य शुक्ल का यह कथन आज भी प्रासंगिक है।

राजनीति का पिछलग्गू बनकर साहित्य नारे में बदल जाता है, उसकी संवेदना प्रभावित होती है जैसा कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य में दिखाई देता है। इससे साहित्य की स्वतंत्र सत्ता भी प्रभावित होती है। वस्तुतः साहित्य सम्पूर्ण जीवन एवं जगत् की अभिव्यक्ति है। जहाँ वह वादग्रस्त होता है, वहाँ वह संकीर्ण दायरे में सिमट जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन महत्वपूर्ण है—“काव्य के क्षेत्र में किसी ‘वाद’ का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारवत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर ‘वाद’ लिखने लगते हैं।”²⁰ आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साहित्य अनेक रूपात्मक जगत् की अभिव्यक्ति है—“सच्ची कविता किसी ‘वाद’ को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती है। वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।”²¹

छायावादी कवियों में सुमित्रानन्दन पंत पर मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव पड़ा, जिसके लक्षण ‘युगांत’, ‘ग्राम्या’ और ‘युगवाणी’ में दिखाई देते हैं। पर शीघ्र ही वे उससे अलग हो गए, क्योंकि उन्हें प्रतीत हुआ कि मार्क्सवाद केवल बाह्य विकास की बात करता है, अंतश्चेतना की उन्नति की नहीं। आचार्य शुक्ल ने पंतजी के इस दृष्टिकोण को लक्षित किया। वे लिखते हैं—“समाजवाद की बातें कवि ने ग्रहण की हैं पर अपना चिन्तन स्वतंत्र रखा है। समाज और संघवाद (कम्युनिज्म) के साथ लगा हुआ संकीर्ण भौतिकवाद उसे इष्ट नहीं।”²²

आचार्य शुक्ल द्वारा मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति पर की गई टिप्पणियाँ वामपंथी रचनाकारों एवं आलोचकों को बहुत खली हैं। इस कारण कुछ साहित्यकार अपना आपा खोकर शुक्लजी को सम्पूर्णतः खारिज कर देना चाहते हैं। यशपाल के अनुसार शुक्लजी का महत्त्व केवल छात्रों की दृष्टि से है, वैसे उनमें ऐसा कुछ नहीं है जिसमें उन्हें गम्भीरता से लिया जाए।²³ मधुरेश के अनुसार रुसी साम्यवाद एवं लेनिन आदि के प्रसंग में उनकी टिप्पणियाँ पर्याप्त हतोत्साहित करनेवाली हैं। उन्हें पढ़कर यह धारणा बनती है कि वे उन ऐतिहासिक शक्तियों को नहीं देख और समझ पा रहे थे जो सदियों से शोषित उत्पीड़ित मनुष्य के लिए संघर्ष और आशा का एक नया संदेश लेकर आई थीं।²⁴ आलोचक रामविलास शर्मा आचार्य शुक्ल के साहित्य एवं आलोचना सिद्धान्त के कायल हैं, व्यावहारिक आलोचना के प्रशंसक हैं, पर आचार्य शुक्ल के साम्यवाद सम्बन्धी विचारों को साम्राज्यवादियों के रुसी क्रान्ति के विषय में किए गए भ्रमपूर्ण प्रचार का परिणाम बताते हैं। रामविलास शर्मा इसे आचार्य शुक्ल के विवेचन

का सबसे कमजोर पहलू मानते हैं। उनके अनुसार आचार्य शुक्ल ने ये शब्द आवेश में लिखे हैं। उनकी मूल विचारधारा से उनका मेल नहीं है।²⁵ लगभग इसी तरह की टिप्पणी शुक्लजी की आलोचना पद्धति के प्रशंसक शिवकुमार मिश्र की भी है—“शुक्लजी अपने समय तक मार्क्सवाद का अध्ययन कर सकते थे, परन्तु उनकी अपनी सोच ने उन्हें उस ओर प्रेरित नहीं होने दिया, उल्टे वे साम्राज्यवादी प्रचार के शिकार हुए और रुस, वोल्शेविकों तथा लेनिन पर भले ही प्रसंगतः परन्तु जमकर प्रहार किया। चूँकि वे मार्क्सवाद की जमीन पर आ ही नहीं पाए, उसके प्रति मनसा उन्मुख नहीं हो सके, फलतः उनकी सामाजिक सोच पर भी उसका प्रभाव नहीं पड़ा। मार्क्सवाद समाज-व्यवस्था में बुनियादी बदलाव की माँग करता है, वर्ग समाज के स्थान पर वर्गहीन समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य मानता है, समाज से श्रेणी विभाजन को खत्म करना चाहता है, जबकि शुक्लजी इसमें से कोई बात स्वीकार नहीं करते। वे चली आ रही व्यवस्था को ही न्याय-संगत बनाना चाहते हैं, उसमें ही क्रान्तिकारी सुधार चाहते हैं, उसे ही एक सुधरे तथा सुधरे हुए रूप में देखना चाहते हैं।”²⁶ शिवकुमार मिश्र यह नहीं कहते कि शुक्लजी शोषणकारी व्यवस्था के समर्थक हैं, पर उन्हें मध्यवर्गीय विवेक का बंदी जरूर मानते हैं—“शुक्लजी पूँजीवादी व्यवस्था को पहचान लेते हैं, उसके शोषणकारी स्वरूप पर कठोर प्रहार भी करते हैं, पूँजीवाद की घृणिततम परिणति के रूप में साम्राज्यवाद का धिनौना अमानवीय रूप भी प्रखरता के साथ सामने लाते हैं, समाजवाद की बात करते हैं...परन्तु उनका मध्यवर्गीय विवेक, उनके संस्कार उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद की जमीन पर नहीं आने देते।”²⁷

मार्क्सवादी आलोचकों की उपर्युक्त टिप्पणियाँ संगत नहीं हैं। यशपाल के कथन पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। इतिहास ने इस टिप्पणी की निरर्थकता सिद्ध कर दी है। आचार्य शुक्ल का लेखन केवल विद्यार्थियों के लिए ही उपयोगी नहीं है अपितु सभी साहित्य-साधकों एवं संस्कृतिकर्मियों, समाजशास्त्रियों एवं राजनीतिक चिन्तकों के लिए भी महत्वपूर्ण है। उनके निबन्ध व्यापक जीवन दर्शन को रेखांकित करने वाले अलग-अलग सोपान एवं सरणियाँ हैं।²⁸ आज भी सबसे अधिक प्रामाणिक साहित्येतिहास आचार्य शुक्ल का ही है। अनेक विशिष्टताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के ‘सामान्य हृदय’ को देखनेवाला, जीवन में ‘प्रयत्न पक्ष’ को महत्त्व देनेवाला, सामान्य मनुष्य को अपने काव्य चिन्तन के केन्द्र में रखनेवाला, लोकहृदय को कसौटी बनानेवाला, अप्रासंगिक कैसे हो सकता है? रामविलासजी का भी यह कहना सही नहीं है कि शुक्लजी की लेनिन सम्बन्धी टिप्पणियाँ आवेश में लिखी गई हैं और शुक्लजी अनेक विसंगतियों में फँस गए हैं। बल्कि रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन उपयुक्त है कि “क्लैसिक कृति और व्यापक वर्तमान जीवन के सम्बन्धों पर यह दृष्टिपात हिन्दी लेखक की सघन बौद्धिकता का परिचायक है।”²⁹ चतुर्वेदीजी आगे लिखते हैं—यह

टिप्पणी महज प्रासंगिक नहीं, यहाँ तो सोवियत व्यवस्था के आधारभूत चिन्तन से ही आचार्य शुक्ल का मौलिक मतभेद है। सन् 2000 में इस मत-भेद का उल्था सोवियत समर्थक अपने पक्ष में कैसे करेंगे, कहना कठिन है।³⁰ शिवकुमार मिश्र का यह कहना नितांत असंगत है कि शुक्लजी वैज्ञानिक समाजवाद की जमीन पर आ ही नहीं सके। वस्तुतः शुक्लजी ने तथाकथित वैज्ञानिक समाजवाद की हकीकत जान ली थी इसलिए उसका विरोध किया था। शुक्लजी मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित होने वाली समाज-व्यवस्था की विसंगतियों को बड़ी गहराई से देख रहे थे। पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था के आधार पर निर्मित समाज में कालान्तर में विकृतियाँ अवश्य आईं, पर वर्ग-संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं, हुई और न ही वर्ग-शत्रुता की नौबत आई। हालाँकि आचार्य शुक्ल ने वर्ण-व्यवस्था के बदले रूप जाति व्यवस्था की तीखी आलोचना की है—“दैवीय कहे जाने वाले ब्राह्मण अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखते हैं, अपनी बारी में प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति से घृणा करती है।... इस प्रकार जाति हार्दिक सहयोग, प्रतिरोध (काउण्टर ऐक्शन) प्रेम, विश्वास तथा कर्म की स्वतंत्रता को अवरुद्ध करने की ओर प्रवृत्त होती है।”³¹ पर मार्क्सवादी चिन्तन में स्वीकृत ‘वर्ग संघर्ष’ और ‘वर्ग शत्रुता’ की अवधारणा ने स्थिति विघातिनी विषमता उत्पन्न की। फिर समाजवादी व्यवस्था में कैसे सर्वहारा के अधिनायकत्व के नाम पर एक व्यक्ति का अधिनायकत्व स्थापित हुआ, विभिन्न देशों में समाजवादी-व्यवस्था के पतन के बाद मिले दस्तावेज से यह बात प्रमाणित होती है। इस सन्दर्भ में फ्रांस से प्रकाशित पुस्तक ‘द ब्लैक बुक ऑफ कम्युनिज्म’ उल्लेखनीय है, जिसमें सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में कम्युनिस्ट काल के दौरान हुए लोमहर्षक अत्याचारों का मार्मिक वर्णन है। मार्क्सवादी चिन्तन की कोख से ही वर्गहीन समाज और राज्यविहीन समाज के बदले राज्य नियंत्रित समाज का जन्म हुआ जिससे एकाशाही प्रतिष्ठित हुई। इसी ने राज्य को आतंककारी व्यवस्था में बदल दिया। फलस्वरूप मानवीय स्वतंत्रता, गरिमा का जबर्दस्त क्षरण हुआ, और अज्ञेय के शब्दों में कहें तो ‘साँचे ढले समाज’ का निर्माण हुआ। किसी भी समाजवादी व्यवस्था वाले राज्य में ‘श्रेणी’ की स्थिति खत्म नहीं हुई बल्कि नई श्रेणियों का निर्माण स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर हुआ और ऊँची श्रेणी के लोगों का समाज के शेष हिस्से से सम्पर्क ही नहीं रहा। निर्मल वर्मा ने इस त्रासद सचाई की ओर संकेत करते हुए लिखा है—“जब कभी बीसवीं शताब्दी का इतिहास लिखा जाएगा तो यह शायद उसकी सबसे बड़ी विस्मयकारी विडम्बना साबित होगी कि जहाँ व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता का प्रश्न था उसकी मृत्युघोषणा तानाशाही अधिनायकों और रेडिकल वामपंथी बुद्धिजीवियों ने समवेत स्वर में की थी, जिसमें एक को दूसरे से अलग करके पहचानना असम्भव था।”³² निर्मल जी के अनुसार “यह एक भयानक त्रासद सचाई है कि बीसवीं सदी ऐसे बुद्धिजीवियों से भरी पड़ी है जिन्होंने

भविष्य के काल्पनिक यूटोपिया के खातिर मनुष्य के वर्तमान को लेबर कैम्प, कांस्ट्रेशन कैम्प और हिरोशिमा-नागासाकी की अकल्पनीय यातना में डाल दिया था।”³³ यह भी एक भयानक सचाई है कि कम्युनिस्ट विचार नियामकों ने ‘क्रान्ति’ और ‘समाजवाद’ जैसे शब्दों को सत्ता प्राप्ति का माध्यम बनाया। लेनिन और स्तालिन दोनों ने मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता को क्रान्ति के नाम पर कुचला था। स्वतंत्रता के पक्षधर लेखकों को सोवियत संघ में सर्वाधिक यातना झेलनी पड़ी थी। इसलिए आचार्य शुक्ल का सोवियत क्रान्ति के मोहक नारों से जरा भी प्रभावित न होना उचित ही था। उन्होंने क्रान्ति की वास्तविकता को जान लिया था और सम्भवतः इस खतरे को भी देख लिया था कि इस व्यवस्था में मनुष्य अपने इच्छानुसार ‘हाथ-पैर भी हिला’ नहीं पाएगा। वे उस लोकधर्म को अधिक वरीयता देते हैं जो संसार के एक कोने को स्पर्श न करे बल्कि संसार के सभी कोनों को स्पर्श करते हुए उसके बीच से निकले।³⁴

सन्दर्भ :

1. हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (संस्करण 1994) पृ. 11
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (संस्करण 1987), पृ. 44
3. वही पृ. 48
4. चिन्तामणि, भाग-2, (संस्करण 2035 वि.) पृ. 39
5. चिन्तामणि, भाग-4, (संस्करण 2002 ई.) पृ. 09
6. वही, पृ. 111
7. विष्णुकांत शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड-1, पृ. 191
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 107
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (संस्करण सं. 2025 वि.) पृ. 510
10. चिन्तामणि, भाग-1, (संस्करण 1956 ई.) पृ. 51
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 102
12. गोस्वामी तुलसीदास, (संस्करण 2029 वि.) पृ. 27
13. वही
14. वही
15. वही पृ. 28
16. वही पृ. 30
17. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आलोचना का अर्थ और अर्थ की आलोचना (संस्करण 2001 ई.), पृ. 37
18. वही, पृ. 134

19. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 512
20. चिन्तामणि, भाग-1, पृ. 150
21. चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 54
22. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 678
23. मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, पृ. 50
24. वही, पृ. 51
25. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, (संस्करण 1957) पृ. 102
26. हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 60
27. वही, पृ. 61
28. मलयज, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 117
29. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आलोचना का अर्थ और अर्थ की आलोचना, पृ. 37
30. वही, पृ. 135
31. चिन्तामणि, भाग-4, (जाति व्यवस्था) पृ. 129
32. दूसरे शब्दों में (लेखक की स्वतंत्रता आज के सन्दर्भ में) पृ. 66
33. आदि अंत और आरम्भ, पृ. 47
34. गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 15

अंगिका के लोकगीतों की सामाजिक चेतना

मृत्युंजय उपाध्याय*

अंग जनपद के क्षेत्र के विषय में पार्जीटर का मत है कि इसके अंतर्गत आधुनिक मुंगेर और भागलपुर जिले सम्मिलित थे और इसका विस्तार कोशी नदी तक था। पूर्णिया जिले का पश्चिमी भाग भी इसके अन्दर पड़ता था। गंगा से उत्तरवाला इसका अंग अंगुत्तराप कहलाता था। वहाँ बुद्ध भ्रमण के लिए आया करते थे। अंगुत्तराप का आपग नगर व्यापार का केन्द्र था। काश्यप विभाण्डक मुनि का आश्रम कोशी के किनारे था और उनके पुत्र ऋष्यशृंग अंग की वारवधुओं द्वारा एक नाव पर चढ़ाकर अंग की राजधानी तक लाए गए थे। आज भी अंगिका बोली के लोकगीतों में वहाँ समाज धड़कता है।

लोकगीतों में मनुष्य अपने आसपास, परिवेश, समाज की पूरी कहानी सुनाता है, सुनता है, देखता-दिखाता है। काव्य, इतिहास, विश्वास, समाज-विज्ञान, धर्म-नीति, आदि ज्ञान की विविध धाराओं के अध्ययन में इनसे बहुत सहायता मिलती है। समाज के रूप को जितनी अकृत्रिमता के साथ लोकगीत सामने लाते हैं, उतना सम्भवतः कोई दूसरी प्रणाली नहीं ला सकती।

अंग जनपद की सभ्यता और संस्कृतिविषयक उपलब्धियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। विश्व कवि रवीन्द्र ने भारतवर्ष को महामानव समुद्र कहा है। विभिन्न जातियों की रीति-नीति, आचार-विचार, भाव-भाषा और आदर्श-आकांक्षाओं के संगम-स्थल का ऐसा विराट उदाहरण शायद ही कहीं मिले। कालक्रम में इस देश में अनेक जातियाँ आईं और बस गईं। यहाँ के निवासियों से उनका संघर्ष हुआ और फिर सामंजस्य, समन्वय और सम्मिलन भी। विभिन्न जातियों के रीति-रिवाज, वेशभूषा और कलात्मक अभिवृत्ति के आदान-प्रदान एवं भौतिक साधनों के विकास के परिणामस्वरूप यहाँ सभ्यता के नए स्तरों एवं आयामों का निर्माण और विकास होता गया। नाना

* प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनबाद-826001, मो. 9334088307

सामाजिक उतार-चढ़ाव के कारण उत्पन्न समस्याएँ अपना स्थान घेरती गईं। इस तरह यह देश बहुजातिक और बहुभाषिक बना। सम्मिश्रण की यह विशेषता भारत के सभी संघटक जनपदों की तरह अंग जनपद में भी लक्षित की जा सकती है।

लोकगीतों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने इसे चार भागों में विभक्त किया है (क) संस्कार-विषयक गीत (ख) माहवारी गीत (ग) सामाजिक-ऐतिहासिक (घ) विविध। यहाँ सामाजिक, ऐतिहासिक संबंधी लोकगीतों का अध्ययन अभीष्ट है, यों अन्यविषयक गीत भी समाज से ही जुड़े हैं। समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह भर नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच जो पारस्परिक संबंध है, क्रिया-प्रतिक्रिया-अंतर्क्रिया से संबद्ध जो भाव हैं, उसे समाज कहा जाता है। सामाजिक का अर्थ होता है सहृदय, संवेदनशील, परदुःखकातर। सामाजिक होने का अर्थ है आत्मसाक्षात्कार का क्षण कि वह अपने आसपास के व्यक्तियों के प्रति सहृदय, संवेद्य हो। आचार्य भरत ने प्रेक्षागृह में बैठे दर्शकों के लिए 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग किया है कि वह रंगमय पर घटित दृश्य, प्रभाव का सहभोक्ता बन सके। उनके सुख-दुःख में साथ दे पाए।

लोकगीत समाज की विरासत है, समाज का दर्पण है। समाज की गतिविधि, प्रथा, परम्परा, उन्नति-अवनति, दशा का अविकल चित्रण लोकगीतों में मिलता है। कारण, वह जन सामान्य से जुड़ा है, सीधे-सरल लोक से जुड़ा है। अतः उसकी निश्छल और हृदयसंवेद्य अभिव्यक्ति हो पाती है। लोकगीतों में मनुष्य के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि का प्रामाणिक चित्रण मिलता है। पहले एक-एक व्यक्ति मिलकर समाज का निर्माण होता है, फिर व्यक्ति की अस्ति-नास्ति समाज पर निर्भर करने लगती है। समाज ही उसके विकास का मुख्य घटक होता है। साहित्य समाज का दर्पण है, तो उसका एक अंग लोकगीत समाज से ही प्रेरणा लेकर जनमता है और उसके ही खाद पानी से समृद्ध होता है। मनुष्य एक विकासशील प्राणी है। राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, मूल्यगत परिवर्तन से वह प्रभावित होता है और तज्जन्य प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज के प्रति व्यक्ति में जो प्रेम, घृणा, सद्भाव, समर्पण, त्याग, सेवा आदि के भाव जनम लेते हैं, उसकी अभिव्यक्ति लोकगीतों में होती है। यह अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना को किस हद तक उजागर कर पाती है, इसी पर विरमना इस अध्ययन का उद्देश्य है।

समाज में नारी का स्थान

हाल में सिमोन द बउवा ने 'द सेकेंड सेक्स' (दोयम, अन्या, उपेक्षिता, आधी दुनिया) लिखा है, जिसमें विश्वभर में नाना स्तर पर नाना विधियों से नारी के शोषण की दास्तान है। उसी तरह, हमारे लोकगीतों में सैकड़ों साल पहले परम्परा, प्रथा,

व्यवहार में जो नारी की उपेक्षा हुई है, उसका चित्रण मिलता है। विवाह योग्य बहन कारुणिक स्वर में कहती है कि उसका निर्वाह जोगी के साथ विवाह कर हो जाएगा, वह चिन्ता न करे। कारण, उसे याद है कि उसके घर में लड़का-लड़की में कितना भेद किया जाता है। संपत्ति का उत्तराधिकार भी लड़कों को ही मिलता है।

जानु मारिहो भैया हो जोगिया तपस्या, जोगी संग होयतै निरबाह हे ।
जहि दिन आहो भैया तोहर जमन छल भैगेल चाँननी रात हे ॥
हँसुओ खोजैते भैया सोना छूरी भेटल होहि से छिलाय तोहर नार हे ।

इसके विपरीत बहन की स्थिति है :

जाहि दिन आहो भैया हमरो जनम छल, भैगेल अन्हारी रात हे ।
हँसुआ खोजैते भैया पसनी* भेंटल ओहि से अम्मा छिलै नार हे ।
तोहरा के लिखल भैया बाबा के संपतिया, हमरा के जोगिया भिखारी हे ॥²

लड़की को समाज में रहना है। उसके आर्थिक संसाधन और दोहन पर ध्यान देना है। अतः वह डॉक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर से विवाह न कर एक किसान से विवाह चाहती है :

जे बर आहो बाबा धामरधूसर** कान्हे पर सोभे कोदारि हे ।
से बर आहो बाबा धिया बिहायब, जलम जलम सुख होय हे ॥³

कन्या का जन्म ही विषाद का कारण होता है। शिशु के जन्म होने से हर्ष का उद्गार स्वाभाविक है, परन्तु यहाँ तो लड़की के जन्म होते ही विषाद छा जाता है। इतना ही नहीं यह कल्पना की जाती है कि गर्भावस्था में वह पचास मरीच पीसकर खा जाती, तो गर्भस्थ कन्या की मृत्यु हो जाती। कन्या जनमाने का उसे पश्चाताप नहीं होता :

जो हम जानताँ धिया जनम लेती,
खैतियाँ में मरीच पचास हे ।
मरीच के झाँसे धिया मरी जैतिए ।
छूटी जैतिए जी के जंजाल हे ।⁴

उस समय मरीच कन्यागर्भ के नाश का निदान था और आज अल्ट्रासाउंड से जाँच करवाकर भ्रूणहत्याएँ फैशन की बात है। नारी के शोषण, उनको अन्या और अतिरिक्त मानने का भाव घटा कहाँ है?

* पसनी = एक प्रकार की खुरपी

** धामर धूसर = धूल से लिपटा हड्डा, कट्टा

पुत्री के जन्म से पृथ्वी पर हाहाकार हो जाता है :

जाहि दिन हे बेटी तोहरी जनम भेल ।
धरती उलल हाहाकार हे ।
सास ननद बेटी मुखहुँ न बोले ।
हरि जी के जिहरा उदास हे ।⁵

दहेज-प्रथा की सुरसा कन्या के जन्म को किस प्रकार लीलती जा रही है, इसका वर्णन ध्यातव्य है :

सोंठवा पीपर हम चुल्हवा में झोंकतें
तेलवा देते ढरकाय हे ।
विहायल सेज हम समेटी के राखतें,
हरिजी से रहते छपाय हे ।
गारल* गरुआ** बेटी तहुँ उखरायल
तहुँ भेल सतरु हमार हे ॥

बेटे वाले दहेज माँगें तो स्वाभाविक है। परन्तु कन्या स्वयं कीमती आभूषण के लिए पिता से आग्रह करे, तो यह चिन्तनीय है। एक लोकगीत में पुत्री अपने पिता से पति, ससुर और अपने लिए भी दहेज की माँग करती है :

हमरा का दिही बाबा नव जोड़ सोनमा,
दमदा के हथिया दंतार हो ।
समधी के दिही बाबा लाली रजैया ।
आरो दिही पाकल बोर पान हो ।⁶

इतना ही नहीं एक बेटी पिता से चन्द्रज्योति हार की माँग करने लगी :

धन तो संपत्ति हो बाबा तोहरा के बाढ़ै
हम लेबै चरणज्योति हार हे ॥⁷

पिता सब कुछ देने को तैयार हैं, परन्तु चन्द्रज्योति हार देने में असमर्थता बताते हैं। लड़की इतना जिद्द करती है कि पिता को उसे रुक्का लिखने को मजबूर होना पड़ता है साथ ही उसकी मानसिक व्यथा भी फूट पड़ती है :

आनहो हे बेटी कलम दबतिया, लिखि देब चरनजोति हार हे ।
मरवो न कैल बेटी जरवो न कैल, तोहें कैल बाबा से जबाब हे ।⁸

*गड़ा हुआ, **जमीन में गड़ा धन

क्या विधि की विडंबना है कि उसके कुल में कैसी दुष्ट बेटी पैदा हुई जो न मरी, न जली और जिसने अपने पिता से ही सवाल-जवाब किया। उसे ही चंद्रहार के लिए रुक्का लिखने को मजबूर किया।

दहेज की सुरसा का मुँह जितना ही खुलता गया, अनमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह का पथ उतना ही प्रशस्त होता गया। मैंने एक बेटीबेचवा को देखा है, जो गर्भस्थ कन्या पर बूटे, दहेजू, विकलांग से विवाह के नाम पर रुपए लेता था और भगवान से प्रार्थना करता था कि कन्या ही हो। फिर उस कन्या का विवाह चार-पाँच वर्ष की उम्र में हो जाता था।

यहाँ दहेज के अभाव में युवती कन्या का विवाह बालक से होता है और कन्या अपनी व्यथा पिता से बताती है :

दूधा भात आज बाबा हमरों भोजन करु तेल से असलान हे।
दधिन के चीर बाबा हमरो पहिरन,
बालक तोरो जमाय हे।
लाली पलंगिया सुतल अजी बाबा,
हमरो न पूरल आस हो।⁹

अल्पवयस्क पति के कारण उसकी सारी आशा-आकांक्षाओं पर पानी फिर जाता है। उदासी के बादल उसे घेर लेते हैं। वृद्ध-विवाह की वैसी ही मर्मांतक पीड़ा :

पियबा के केस सब पाको गेलै
दाँत सब टूटी गेलै हो
.....
होरिला नहीं भेलै हो।¹⁰

वैधव्य, बंध्याकरण, सौत आदि से उत्पन्न नारी की समस्याओं का चित्रण भी उपलब्ध होता है, जिससे सामाजिक अवस्थाओं एवं दशाओं का पता चलता है।

अंगिका समाज में प्रति व्यक्ति आय कम है। अल्प उत्पादकता है। रोजगार का अभाव है। निरक्षरता है। गरीबी है। कर्ज है। नानावती अंजारिया ने लिखा है—“भारतीय गाँवों में लोग कर्ज लेकर जन्मते हैं; कर्ज से पलते-बढ़ते हैं और कर्ज से ही उनका दाह-संस्कार होता है।” इस समाज में किसान की अवस्था सर्वथा दयनीय है। जमींदार बड़े किसान, छोटे सीमांत किसानों को बंटाई पर जमीन देते हैं। वही उनकी रोजी-रोटी का आधार है और कार्तिक मास में उनसे जमीन छीन ली जाती है। बटाईदार किसान की इस मार्मिक अवस्था का वर्णन कितना हृदय-द्रावक है :

छीनी लेले कहिने बाबू जोतलो जमीनमा हो।
ऐही रे जमीनमा परे समैके जीवनमा हो।

जमीन छिनाने का मारक प्रभाव सामने आ जाता है :

बैलवा न देखे भूसरा, कीठिया में मारै गुस्सा।
मामी के पोसिल मूसा, कोठिया में मारै गुस्सा।
धूरी-धूरी काने आवे रोटी लय ललनवा हो।

बैल को भूसा नहीं मिलता, कोठी में अनाज के अभाव में चूहा गुस्सा कर रहा है। धूल में लोट लोटकर बच्चा रोटी के लिए रो रहा है।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समृद्धि तो आई, पर गरीब गरीब बनता गया, अमीर की अमीरी बढ़ती गई। अमीर का शोषण चक्र और तेजी से चलने लगा। इसलिए दिनकर को लिखना पड़ा था :

सबको खिलाता है जो, उपजा के अन्न जग में,
मरता वही है भूखा, जग में किसान क्यों है।

परन्तु अंगिका के गीतकार शोषण के महादुष्चक्र के मध्य भी सच्चे मानव के निर्माण की कल्पना करते हैं। शोषणचक्र के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, जिसके कारण गरीब को विकास का अवसर मिले। देश से गरीबी और बेरोजगारी का नाश हो।

मानव बनड, मानव बनी के
समाज कल्याण में भिड़ी जा।
तब देखौ, तोहूँ फूलभ फलभ
गरीबी फुलतै फलतै
आरु ई देस महान् बनी जैते
नै गरीबी रहतै न बेरोजगारी
सब सुखी रहतै।

गरीबी सारे संबंधों को क्षार-क्षार कर देती है। वहाँ आशा-अरमान, स्वप्न, उमंग के लिए स्थान कहाँ बचता है? भाई को पता चलता है कि उसकी बहन को कितना अनाज कूटना पीसना पड़ता है, कितना घड़ा पानी भरना पड़ता है। फिर वह थकचूर कर निढाल हो जाती है। उसे आधी रोटी खाने को मिलती है। उसमें भी बँटवारा होता है।

दस कुटिया दस पीसिया सुनु भइया हो।
आरो सहस्सर घैल पानी दलार मेरो भैया हो।
आधियो रोटी भैया बखरा सुनु भइआ हो।¹¹

गुनार मिरडल ने ‘एशियन ड्रामा’ में लिखा है कि कहीं भी गरीबी है, तो वह सब जगह उन्नति में बाधा पहुँचाती है :

“Poverty any where is a threat to prosperity everywhere.”

गरीबी है, तो दिनभर बैठे हैं। मन ऊब गया, तो ताश, शतरंज पर ध्यान गया। मनोरंजन के लिए शराब, ताड़ी, गाँजे का व्यवहार होने लगा। इसने स्वास्थ्य बिगाड़ा, गरीबी बढ़ाई और जीवन व्यर्थ बना दिया। पत्नी से मारपीट, घर में लड़ाई-झगड़ा, विपत्ति का अनंत विस्तार।

हाय राम दारुआ पीबी क औले बलेमुआ धूम मचैलकै ना
एक छड़ी मारे छे दू छड़ी मारै छे फेरु जिराय छे ना।

समाज का उत्थान होता है संस्कृति से। संस्कृति आती है अंतःकरण के परिष्कार, परिमार्जन से। वहाँ संग्रह नहीं त्याग रहता है, ढंढ नहीं निर्द्वंद्वता रहती है। अहिंसा, त्याग, सहिष्णुता, संयम, विश्वबंधुत्व, अपरिग्रह इसके मूल तत्त्व हैं। भारतीय जीवन के अनन्त स्रोतों का मूल उद्गम लोक-संस्कृति ही है, जहाँ ये सारे गुण मौजूद हैं। यह लोक-संस्कृति अपने प्रकृत रूप में आज भी हमारे गाँवों, जंगलों और पर्वतों में प्रकृति की छाया में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुई है। अंगिका के लोकगीतों में यह गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। ‘अतिथि देवो भव’ का भाव है हमारी संस्कृति में। सर्वस्व त्याग क्या देह और अस्थि त्याग यहाँ आम बात है।

क्षुधार्थ रंतिदेव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर क्षितिश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर चर्म भी दिया।¹²

विष्णु धर्मसूत्र में बताया गया है कि जिस घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उसे अपने सभी पाप दे देता है और उसके सभी पुण्य ले लेता है। अंगिका के एक झूमर में अतिथिसत्कार का जीवंत वर्णन है। किसी घर में आए हैं नृत्य करने वाले, मिलिटरी, सिपाही। उनका पूरा ध्यान रखा जाता है :

कहाँ बैठइबे नाचवाला, कहाँ बैठइबे मलेटरी
कहाँ बैठइबे जोड़ा सिपैहिया, बताय दे छोटकी ननदी।¹³

अतिथि-आगमन पर इतना उत्साह है कि उन्हें कहाँ बैठाया जाएइस पर लोग विचारमग्न हैं।

महात्मा गाँधी ने पंचायत राज का प्रस्ताव दिया था, जो संविधान के 73वें संशोधन में पारित हुआ था। भारत की आत्मा यहाँ के सात लाख गाँवों में वास करती है, जिसके मामले, विवाद, समस्याएँ विकास की योजनाएँ पंचायत में ही हल हो सकती हैं। उस युग में होता था राजा, जिसके पास फरियाद लेकर सब जाते थे। छोटा-बड़ा,

गरीब-अमीर सबके प्रति वहाँ एक प्रकार का व्यवहार था। एक गीत में इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

राजा राजा बढई डाँटी, बढई न खुड़ा चीरे खुट्टे में मोरी दाल है
क्या खाऊँ, क्या पीऊँ, क्या लेके परदेश जाऊँ?¹⁴

घूसखोरी की प्रथा तब भी थी, आज तो है ही। रुपए पैसे का लालच देकर ही अपराधी व्यक्ति छूट पाता है। उसके संबंधी उसे छुड़ाने में गहने-जेवर की परवाह नहीं करते। इसीलिए पत्नी पति को छुड़वाने के लिए इतना अधीर है :

अठिया बेचबै मठिया बेचबै।
बेचबै कान के लोर हो
दसे रुपैया सिपहिया के देबै।
पियबा के लेबै छोड़ाई हे।¹⁵

एक ओर चोर को दंड देकर शान्ति-व्यवस्था कायम करने की कोशिश की जाती है, तो दूसरी ओर घूस लेकर अपराधी को दंडित करने के बजाए रिहा कर दिया जाता है। यह सामाजिक अपराध को बढ़ावा देता है। अव्यवस्था फैलाता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ समाज में आज भी विद्यमान हैं।

युवा-चेतना, शिक्षा, समता, साक्षरता, कृषि विकास, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-उन्मूलन, देहज-विरोधी अभियान, नारी-जागरण आदि मुद्दों पर अंगिका में लोकगीत अपेक्षाकृत कम हैं। हाँ, इधर के कवियों का ध्यान इस ओर गया है और वे पूर्ण जागरण अभियान में लगे हैं और अंगिका प्रदेश को अपने गीतों से विकास की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं।

सन्दर्भ-संकेत

1. महाभारत, आरण्यक पर्व, 3/113/6-60
2. अंगिका-संस्कार-गीत, संपादकपं. वैद्यनाथ पांडेय एवं श्रीधारावल्लभ शर्मा, प्र. सं. 1969, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना800004, पृ.-152.
3. उपरिवत्, पृ.-152
4. उपरिवत्, पृ.-152
5. उपरिवत्, पृ.-144
6. उपरिवत्, पृ.-147
7. उपरिवत्, पृ.-149
8. उपरिवत्, पृ.-156

9. डॉ. गायत्री देवी, *अंगिका लोकगीत मूल्यांकन एवं परिव्याप्ति*, प्रथम संस्करण 2004, मीनाक्षी प्रकाशन, एम.बी. 32/2 बी, गली नं.2, शकरपुर, दिल्ली-110092, पृ.-172
10. उपरिवत्, पृ.-172
11. उपरिवत्, पृ.-174
12. मैथिलीशरण गुप्त, “वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।”
13. डॉ. गायत्री देवी, *अंगिका लोकगीत मूल्यांकन एवं परिव्याप्ति*, पृ.-176
14. उपरिवत्, पृ.-177
15. उपरिवत्, पृ.-178

असम में लोकनाट्य का उद्भव और विकास

अदिति सैकिया*

नाटक एक शिल्पकर्म है। यह एक ऐसा विषय है जिसके माध्यम से मानव-मन को आसानी से आकर्षित तथा प्रभावित किया जा सकता है। महाकवि कालिदास ने भी इस बात का पुष्टीकरण करते हुए लिखा है कि नाटक विभिन्न प्रकार की रुचि रखनेवाले मनुष्यों के मनोरंजन का अद्वितीय साधन है

‘नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्यकं समाराधनम् ।’¹

नाट्य साहित्य की आत्मा लोकनाट्य है। लोकनाट्य एक प्रकार से गीताभिनय है। इसकी विशेषता लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोकनाट्य और अभिनय का कोई लिखित रूप नहीं मिलता है। लोकजीवन से लोकनाट्य का अभिन्न सम्बन्ध है। लोकनाट्य की कहानी का निर्माता, अभिनय, दर्शक, श्रोता, पात्र-पात्रा, नर्तक-नर्तकी, वाद्य और वाद्य बजानेवाला आदि सब समाज के ही लोग हैं। क्षेत्रीय भाषा में अभिनीत लोकनाट्य की कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक या सामाजिक होती है। लोकनाट्य के उद्भव और विकास में लोकगीत और लोकनृत्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। बहुत से विद्वानों का मत है कि किसी भी देश या प्रदेश के नाट्य साहित्य की उत्पत्ति उस देश या प्रदेश के लोकनाट्य से हुई है। भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास तो अत्यंत प्राचीन है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने भारतीय नाट्य साहित्य का जनम दो हजार वर्ष पूर्व माना है। भारतीय विभिन्न प्रदेशों के लोकनाट्यों की तरह असमिया लोकनाट्य की परम्परा भी अति प्राचीन है।

भारतवर्ष के पूर्व प्रान्त असम में नृत्य-गीत-वाद्य और अभिनय का स्पष्ट प्रमाण मिलता है भरतमुनि के ‘नाट्यशास्त्र’ में। ‘नाट्यशास्त्र’ में उल्लेखित उद्ग मागधी प्रवृत्ति

* डॉ. अदिति सैकियावरिष्ठ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, मनोहारी देवी कनई महिला महाविद्यालय, डिब्रूगढ़ (असम)।

ने अंग, बंग, कलिंग, वत्स, उड्ड, मगध, पूण्डु, नेपाल प्रागज्योतिष (असम) आदि स्थानों को समेट लिया।

*‘प्रागज्योतिषाः पुलिन्दाश्च वैदेहास्ताम्रालिप्तकाः
प्राच्य प्रभृतयश्चैव युजन्ति चौड्रमागथीम् ॥’²*

इससे यह पता चलता है कि भरतमुनि द्वारा लिखित ‘नाट्यशास्त्र’ के पहले ही असम में नाट्य शैली प्रचलित थी। विद्वानों का मानना है कि ‘नाट्यशास्त्र’ में प्रचलित ये नाट्य शैलियाँ सम्भवतः लोकनाट्य ही हैं।

उत्तर-पूर्व असम प्रदेश के लोकनाट्यों में विशेष रूप से ‘पुतला नाच’, ओजापालि, धुलिया गान, खुलीया गान, कुशान गान, भारी गान आदि उल्लेखनीय हैं। असम के लोकनाट्य में असमिया समाज जीवन, लोककला, प्राचीन धर्मीय विश्वास, लोक विश्वास, अर्थनीति, खाद्य, सुख-दुःख, हँसना-रोना आदि के खण्डचित्र स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।

‘पुतला भाओना’ असम की प्राचीनतम कला है। उल्लेख्य है कि असमिया लोकनाट्य का मूल ‘पुतला नाच’ को ही माना जाता है। पुतला (कठपुतली) के माध्यम से अनुष्ठित अभिनय ही पुतला भाओना है। व्युत्पत्तिगत रूप से पुतला में जीवन आरोपित होता है। दार्शनिक दृष्टि से भी मानव मात्र ही पुतला स्वरूप है और सूत्रधार रूपी भगवान कठपुतली रूपी मानव को परिचालित करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ‘कालिकापुराण’ में उल्लेखित ‘पुतला नाच’ असम का सबसे प्राचीन लोकनाट्यानुष्ठान है। लिखित प्रामाणिकता के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ग्यारह सौ शताब्दी के पूर्व से ही प्रागज्योतिष कामरूप (असम) में पुतला भाओना की परम्परा प्रचलित है।

असम में सूत से परिचालना करनेवाला पुतला भाओना का अधिक प्रचलन है। पुतला भाओना गीत-नृत्य तथा अभिनय की समष्टि है। पुतला भाओना का आरम्भ पूर्वरंग, प्रस्तावना, मंगलाचरण-वन्दना आदि से होता है। यहाँ सूत्रधार ही प्रायोजक और निर्देशक का काम करते हैं। सूत्रधार निर्जीव पुतला की भाषा बोलता है। ओजा अथवा गायक गीत गाते हैं और वाद्य बजानेवाला खोल (एक प्रकार का वाद्य) अथवा मृदंग बजाकर नाटक को आगे बढ़ाते हैं। इस लोकनाट्यानुष्ठान में गीत की प्रधानता अधिक है। साधारणतः पुतला भाओना में रामायण की कथावस्तु को लेकर अनेक नाटक खेले जाते हैं। पुतला भाओना के लिए सीताहरण, वेडला-लखिंदर, मारिच वध, जटायु वध, रावण वध, वालि वध, सावित्री-सत्यवान आदि नाट प्रस्तुत किये जाते हैं। ये नाट मौखिक परम्परा से प्रचलित हैं। पुतला भाओना साधारणतः रात को अनुष्ठित होते हैं और ये अभिनय दो से ढाई घण्टे तक चलते हैं। यही पुतला नाच असम में ओजापालि नृत्य नाटक होता हुआ असमिया नाटक में परिवर्तित हुआ है।

पुतला नाच के अलावा ‘ओजापालि’ में भी लोकनाट्य के समस्त समल निहित हैं। ये दो प्रकार के हैं

- (1) विष्णु पूजा के साथ जड़ित व्यास ओजापालि अथवा समागोवा ओजापालि।
- (2) सर्प देवी मनसा पूजा के साथ सम्पृक्त सुकनानि ओजापालि।

मौखिक परम्परा से प्रचलित ‘ओजापालि’ लोकनाट्य असमिया लोगों के मनोरंजन का सबसे प्रधान साधन है। इसके उद्भव के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत हैं। ओजापालि शब्द-ओजा (मुख्य व्यक्ति) ओर पालि (सहायक गण) से बना है। ओजापालि में संगीत, नृत्य तथा अभिनय की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है। एक प्रधान ओजा (गायक) पौराणिक कहानियाँ जैसे लखिण्डर-वेडला आख्यान, हर-गौरी विवाह संवाद आदि विभिन्न राग और ताल में गाता है और पालि उसका साथ देता है। गीतों के साथ-साथ देउधनी विभिन्न भंगिमाओं से नृत्य तथा मधुर गीत से ग्रामीण जनता के हृदय को आसानी से आकृष्ट कर लेती है। इस नृत्य नाटक में खासकर विभिन्न पुराणों और काव्यों की घटनाओं को साधन के रूप में लिया जाता है। ओजापालि के माध्यम से धर्मीय गीत परिवेशित होने के साथ-साथ सहज-सरल गाँववालों के बीच इस अनुष्ठान ने धर्मीय शिक्षा के अलावा नैतिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार में भी अनेक योगदान दिया है। ओजापालि का प्रचलन आज भी निम्न असम में (दरंग, कामरूप, बरपेटा, गोवालपाड़ा, बंगाईगाँव, कोकराझाड़ तथा धुबुरी जिला) है। नृत्य गीत से मुखरित ये ओजापालि असम के श्रेष्ठतम लोकनाट्य हैं। यह अंकीया नाटक का मूलाधार भी है।

असमिया लोकनाट्य की परम्परा में ‘धुलिया भाओना’ का योगदान उल्लेखनीय है। असम में ढोल और खोल अपरिहार्य वाद्ययंत्र हैं। सभा-समिति, शादी-व्याह आदि के अवसर पर धुलीया (ढोल वादक) नृत्य गीत के साथ ढोल बजाते हैं और सर्कस, कुष्टि आदि का भी प्रदर्शन करते हैं। इनके अलावा छंग और नाटक प्रदर्शन करते हैं, छंग प्रदर्शन और अभिनय में सक्रिय भाग लेनेवाले को भाउरा या भावरिया कहते हैं। धनजय के अनुसार ‘नृत्य और नाटक का मूल उपादान भाव और रस है।’³ भाव निर्वाह करनेवाला ही भावरीया या भाउरा या भाइरा है। इसके अलावा भाइरा समसामयिक समाज में संघटित विभिन्न कार्य अथवा आचरण का व्यंग्यात्मक अभिनय करते हैं। भाइरा का प्रचलन अविभक्त कामरूप में आज भी है। इस प्रसंग में निम्नि भाइरा, सोमवर भाइरा, भोला भाइरा, मोहन भाइरा, शुखुना भाइरा आदि का नाम उल्लेखनीय है। साधारणतः इसमें अभिनय के लिए पौराणिक कहानी लेते हैं। ये नाटक भी मौखिक परम्परा से प्रचलित हैं। इसकी भाषा भी दैनन्दिन लोगों में व्यवहृत भाषा है। धुलीया भाओना में अभिनय के लिए निर्वाचित नाट्य कहानियों में खटासुर वध, सीताहरण, अंधमुनि का अभिशाप, अभिमन्यु वध, कुरु-पाण्डव का युद्ध, कर्णवध, सीता का स्वयंवर, लव-कुश का युद्ध आदि उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक विषयवस्तु भी

इस नाटक में देखी जाती है, जैसेचीन भारत युद्ध, जयमती आदि। कभी-कभी सामाजिक घटना पर भी नाटक कहानी प्रस्तुत किया जाता है, जैसे चोर-पुलिस, बूढ़े की शादी आदि। धुलीआ भाओना में प्रधान ढोल वादक ढोल बजाते हैं और विभिन्न क्रिया सम्पादन करते हैं। उनके सहायक गण काँस के बड़े-बड़े 'तालों' की ताली के साथ संगत करते हैं। इसमें वाद्य के साथ-साथ नृत्य-गीत और अभिनय भी होता है।

'खुलीया भाओना' असम में प्रचलित जनप्रिय और जीवन्त लोकनाट्यानुष्ठानों में से एक है। इसमें एक ओजा रहता है। वह एक साथ मंच निर्देशक, परिचालक और प्रधान गायक भी है। ओजा और पालि के साथ-साथ खुलीया नृत्य करते करते खेल बजाते हैं। 'खुलीया भाओना' लोकनाट्य की विषयवस्तु प्रधानतः रामायण और महाभारत की है। इसके अभिनेता राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, कौशल्या, सीता, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रोण, दुर्योधन, द्रौपदी, कुन्ती आदि चरित्रों का अच्छी तरह से अभिनय करते हैं। इन नाटकों का उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करने के साथ-साथ नैतिक शिक्षा प्रदान करना भी है।

'कुशान गान' लोकनाट्यानुष्ठान भी नृत्य, गीत और अभिनय की समष्टि है। इन नाटकों की कथावस्तु प्रायः रामायण से ली जाती है। सरस्वती देवी की वन्दना से इन नाटकों की शुरुआत होती है। कुशान गान में 'बेणा' एक अपरिहार्य वाद्ययन्त्र है। एक मूल गायक या गीदाल, प्रधान सहायकारी अथवा दोहारी, कुछ नर्तक वेशी लड़के या चेंड़ा और कुछ वादक या वेइना तथा गायक या पालि के सहयोग से मैदान में दर्शक के बीच एक जगह पर कुशान गान नाटकों का अभिनय करते हैं। ये लोग गीत, नृत्य तथा अभिनय से ग्रामीण जनता के हृदय को आकृष्ट कर लेते हैं। समग्र अनुष्ठान में वायन वाद्य बजाते हैं। 'कुशान गान' में स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। दोहारी की भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह अपनी वाणी तथा नृत्य, गीत और अभिनय की मुद्रा से ग्रामीण जनता के हृदय में हास्य रस का संचार करता है।

'भारी गान' भी कुशान गान जैसा ही है। यहाँ गीदाल के हाथ में 'बेणा' के बदले चोवर (एक प्रकार का वाद्य) रहता है। इस नाटक की कथावस्तु रामायण के 'सीताहरण' अध्याय से ली जाती है। यहाँ राम-लक्ष्मण और सीता के अलावा बाकी सब अभिनेता मुँह पर विभिन्न प्रकार के चेहरे लगाकर मंच पर आते हैं और अपने-अपने अभिनय द्वारा ही लोगों को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। ग्रामीण जनता-मैदान में बैठकर खुले मंच पर इनका अभिनय देखती है।

असमिया लोकनाट्यानुष्ठान में 'पाला गान' का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। 'पाला गान' में भी लोकनाट्य के सारे तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इसमें मुख्य गायक दोतारा (एक प्रकार का वाद्य) संगत करते हैं। 'पाला गान' की विषयवस्तु अनेक क्षेत्रों में संसारी है। लोक-कहानी अथवा केच्छा के साथ इस नाट्यानुष्ठान का सम्पर्क अधिक सुदृढ़ है। इसलिए 'पाला गान' को 'केच्छा-बन्दी गान' आख्या देते हैं। इसके

दो भाग हैंखाड़ा तालि और रेसना तालि। 'कुशान गान' की तरह 'पाला गान' भी गीत पद और नृत्य-संलाप तथा अभिनय की समष्टि है।

इनके अलावा और अनेक लोकनाट्य असम प्रदेश के भिन्न-भिन्न गाँवों में उपलब्ध होते हैं। यात्रा धर्मी लोकनाट्य में असम के गोवालपाड़ा जिले में गोवालनी यात्रा, मनाई यात्रा, भासान यात्रा आदि उल्लेखनीय हैं। अर्द्धनाटकीय लोकनाट्य में उल्लेखनीय हैंपचति उत्सव, चड़क पूजा की गीत, काति पूजा की गीत और हुदुम पूजा की गीत।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारत के पूर्वी प्रान्त असम में लोकनाट्य का भण्डार भरा हुआ है। दुःख की बात यह है कि लोग इसके संरक्षण की ओर ध्यान कम देते हैं। आधुनिक शिक्षित लोगों की रुचि इससे हटती जा रही है। लेकिन हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि केवल असम में ही नहीं पूरे देश में लोकनाट्य के आधार पर ही नवीन नाटकों का विकास हुआ है। इसलिए हमें अपने-अपने प्रदेश के लोकनाट्य का संरक्षण करना चाहिए ताकि हम अपना अस्तित्व खो न सकें।

टिप्पणी और सन्दर्भ सूची :

1. कालिदास, *मालविकाग्निमित्रम्*
2. मनमोहन घोस (सम्पादित) : *भरतमुनि का नाट्यशास्त्र*, 14/45
3. धनंजय, *दशरूपक*, 1/12

सहायक ग्रन्थों की सूची :

1. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, *लोकसाहित्य की भूमिका*
2. डॉ. श्याम परमार, *लोकधर्मी नाट्य परम्परा*
3. मृणाल कुमार गंगै (सम्पादक), *नाटक, गरीयसी संघ, डिगवै*, 2000
4. डॉ. सत्येन्द्र नाथ शर्मा, *असमिया नाट्य साहित्य*, 1993
5. डॉ. परमानन्द राजवंशी (सम्पादित), असमिया नाटक : *परम्परा और परिवर्तन*, 1995
6. रामगोस्वामी, *असमर लोकनाट्य*, 1991
7. शैलेन भराली, *असमिया लोक नाट्य परम्परा*
8. केशदा महन्त, *कालिदासर साहित्य*
9. डॉ. प्रह्लाद बरुवा (सम्पादक), *असमिया लोक साहित्य*, 2001
10. लीला गंगै, *असमिया लोकसाहित्यर रूपरेखा*।

उगने की उम्मीद में बोई गई कविताएँ**

रामस्वरूप दीक्षित*

“मैं कविताएँ लिखता नहीं बोता हूँ। इस आस्था-भरोसे से कि वे कभी उठेंगी और धरती के चेतन-अवचेतन में/कान्हा की वंशी-सी गूँजेंगी।” उगने की उम्मीद में अपने समय में ‘अपने समय के लिए’ बोई गई ये कविताएँ जगदीश तोमर को समकालीन कविता का विरल हस्ताक्षर बनाती हैं। 28 वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद आया कवि का यह दूसरा संग्रह अपने भीतर अपनी सांस्कृतिक विरासत और परम्पराओं के साथ अपने समय की सच्चाइयों से मुठभेड़ करता है। कवि ने अपने स्व का पर्याप्त विस्तार देते हुए उसे वैश्विक बनाने का प्रयास किया है। निरन्तर कम होती जा रही संवेदना, छिजते जीवन मूल्य और दिन-दिन बढ़ती विसंगतियाँ कवि को गहरे तक विचलित करती हैं।

ग्लोबलाइजेशन की आड़ में हमारी अपनी चीजों, अपने पर्यावरण और सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को तहस-नहस करने की साम्राज्यवादी ताकतों की साजिश को कवि न केवल पहचानता है, वरन् उनका सामूहिक प्रतिकार करने की चेतना भी पाठकों में पैदा करता है। अपनी जड़ों से गहरे जुड़ाव के बावजूद ये कविताएँ उस जनवाद के बेहद करीब हैं, जिसमें आम आदमी की बेहतरी के लिए मुकम्मल किस्म की चिन्ता की जाती है।

जगदीश जी वाद और विचार की कारा से स्वयं को मुक्त रखकर खुले मन और दृढ़ संकल्प के साथ उस आदमी के पक्ष में खड़े दिखते हैं, जिसे लम्बे समय से हिन्दी में कथित प्रगतिशीलों द्वारा अपनी कविताओं-कहानियों के लिए कच्चे माल की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा है।

संग्रहीत कविताएँ न तो पाठकीय आनन्द प्रदान करने के उद्देश्य से लिखी गई हैं, न ही मनोरंजन की दृष्टि से। ये कविताएँ यूँ ही समय गुजारने के लिए सोफे या

* सिद्ध बाबा कॉलोनी, टीकमगढ़ (म.प्र.), पिन47200; मो. 09981411097

** ‘अपने समय के लिए’, कवि : जगदीश तोमर, प्रकाशक : शिल्पायन दिल्ली, (2009), 150 रूपए।

दीवान पर अधलेटे सरसरी निगाह से नहीं पढ़ी जा सकतीं। ये पूरी पाठकीय तैयारी के साथ पूरी सजगता व सावधानी से पढ़े जाने की माँग करती हैं। इन्हें आप एक या दो बैठकों में ‘निपटा’ नहीं सकते। इन्हें पढ़ते हुए आपको खुद मुठभेड़ करनी पड़ेगी और तमाम जद्दोजहद के बाद आपको इनसे सहमत होना पड़ेगा। मौजूदा व्यवस्था की विसंगतियों के खिलाफ आपको ये एक सात्विक आक्रोश से भर देंगी। ‘अपने समय के लिए’ रची गई इन कविताओं में कवि का तप और विचारों का ताप गहराई से महसूस किया जा सकता है। ढाई दशक के दरमियान पूरी तैयारी और इतमीनान से लिखी गई ये कविताएँ हमारे मौजूदा समय का ऐसा हलफिया बयान हैं, जिसे हम समय के इतिहास में साक्ष्य के तौर पर पेश कर सकते हैं। भारतीयता और स्थानीयता के आवरण में लिपटी ये कविताएँ अपने भीतर तमाम वैश्विक सन्दर्भों को समेटे हुए हैं। हमारे ‘कैरियरिस्ट’ होते जा रहे समय एवं समाज में ‘कोचिंग की कारा में’ छटपटाता बचपन हो या घर-घर जाकर काम करने वाली ‘जमुना’ जैसी समाज के हाशिए पर पड़ी महिलाएँ हों, जगदीश जी के यहाँ इन सबकी चिन्ता है। मगर यह चिन्ता एक समाजशास्त्रीय या राजनेता के बरक्स एक ऐसे मनुष्य की चिन्ता है जो ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ को वैश्विक मंत्र बनाना चाहता है। यहाँ ‘बच्चे खेल रहे हैं’ जैसी प्रतीकात्मक कविताएँ हैं जिनमें बच्चों के बहाने बड़ों के खेलों का खुलासा करते हुए आज की राजनीति के बचकानेपन को कुछ इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि पाठकों में उसे बदलने की चाह पैदा हो।

आधुनिकता की आँधी में उपेक्षित हो रहे घर, पेड़, नदी, पहाड़, पोखर सबको यहाँ शिद्दत के साथ याद किया गया है। ग्लोबल ज्ञान के जमाने में अपने पास-पड़ोस को, अपनी मिट्टी और उसकी गंध को और जीवन के मूल मंत्र ‘ढाई आखर’ को भूलते लोगों से अपनी जड़ों की ओर लौटने की अपील आधुनिकता के दलालों को भले ही रास न आए, मगर आगे बढ़ने के लिए अपने पैरों के नीचे जमीन चाहने वालों के लिए यह किसी मंत्र की तरह है। इतिहास को अपनी धमनियों में सुरसुराते हुए अनुभव करने वाला कवि उसे अंधेरे में भटकते देख बहुत चिंतित है। इतिहास के उजले रूप को देखने की चाहत कवि को व्यापक सरोकारों से जोड़ती है। टूटती पहाड़ियों के दर्द और वनस्पतियों के आर्तनाद से विगलित कवि जहाँ पर्वतों को फूलों की घाटियों में बदला हुआ देखना चाहता है, वहीं खुद ‘पेड़ की तरह’ हो जाना चाहता है तमाम झंझटों से मुक्त। मगर क्या पेड़ झंझटों से मुक्त हैं? हो सकते हैं?

हमारी धरती, हवा-पानी पर कब्जा करते बाहुबलियों से दुनिया को बचाने की जरूरत से भला कौन इनकार करेगा? आदमी की खाल ओढ़े भेड़ियों से सावधान करती इन कविताओं को लाचारियों-विवशताओं के पाले में/सर्द पड़ते आदमी के लहू को गर्माने के लिए थोड़ी-सी आग की दरकार है, जो निश्चित ही इस संग्रह को पढ़ने के बाद पाठकों के पास होगी क्योंकि अन्ततः इसी आग की रोशनी से ‘मुक्त होगा तमसाच्छन्न समय। और होगी अस्तगत/अब तक की सबसे बड़ी दुःखांतिका।’

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिन्तन-सृजन का अंक 7:2 मिला। सदा की तरह गंभीर; विचारोत्तेजक। स्वाध्याय आन्दोलन के कार्यक्रम में बीते समय को डॉ. शाह जी ने जिस तरह रचनात्मक स्पर्श दिया है, वह अद्भुत है। आज के बुद्धिजीवी समाज को अपनी समझ का कायाकल्प करने की जरूरत है। उनका यह वाक्य मैंने डायरी में नोट किया है। मिश्र जी के लेख के शीर्षक में पावक की जगह 'पावन' होना चाहिए। यह पूरा लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लोहिया जी को जिस व्यापक संदर्भ में समझने की कोशिश यहाँ है वह स्पृहणीय है। डॉ. सुरेश शर्मा जी का लेख एक विखरब से प्रारंभ हुआ और जब पटरी पर आया तो 1,2,3, और खत्म। यह महत्वपूर्ण बात भी संप्रेषण के लिए एक प्रकार की व्यवस्था चाहती है।

छोटे राज्यों के निर्माण से जुड़े विभिन्न पक्षों को संपादकीय में धारदार ढंग से उठाया गया है। बधाई। शंकर शरण जी का सह संपादक से जुड़ना प्रसन्नताकारक है; किंतु उनके लेख चिंतन सृजन में अवश्य रहें। **डा. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी, "श्री निकुंज" बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर।**

... 'चिन्तन-सृजन' की आतुरता से प्रतीक्षा रहती है। ... तबीयत से पढ़ने लायक कुछ ही पत्रिकाएँ होती हैं उनमें से चिन्तन सृजन को मैं प्रथम स्थान पर रखता हूँ। आप जिस निष्ठा के साथ इसे निकाल रहे हैं, वह अभिनन्दनीय है। **डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, दी.द.उ.गो.वि.वि., गोरखपुर एवं सम्पादक: 'समन्वय'।**

'चिन्तन-सृजन' के नये अंक में आपने छोटे राज्यों के निर्माण की समस्याओं पर बड़ा ही सटीक एवं तर्कसंगत सम्पादकीय लिखा है। गाँधी ने भाषावार राज्यों के गठन का समर्थन किया था और ऐसा हुआ भी, किंतु इन राज्यों को तोड़कर नये-नये छोटे राज्य बनाने के आन्दोलन हुए और कुछ सफल भी हुए। इस समय जो राजनेता छोटे राज्यों के निर्माण के लिए भूख-हड़ताल, तोड़-फोड़ और जन-आक्रोश को उत्तेजित कर रहे हैं,

वे विशुद्ध रूप से सत्ता और धन के लोभ से प्रेरित हैं। देश की राजनीति का दुर्भाग्य है कि देश के अनपढ़, लालची एवं अपराधी राजनेता बन गये हैं, जो इतिहास से कुछ भी सीखना नहीं चाहते। यह तर्क निरर्थक है कि छोटे राज्यों से ही विकास होगा। हाँ, विकास इन राजनेताओं का होगा, आम जनता तो गरीबी और बेबसी में ही जिन्दा रहती है। मैं आपसे सहमत हूँ कि नया राज्य गठन आयोग बने, पर अब तो इन आयोगों पा भी विश्वास उठ गया है। सरकार जो चाहती है, वह इन आयोगों से प्रस्तावित करा लेती है। जनता यहाँ भी अदृश्य रहती है। देश को एक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है। देश की रक्षा होगी एवं सुचारु प्रशासन होगा, तभी देश का विकास होगा।

**डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98,
अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली-110052।**

'चिन्तन-सृजन' अक्टूबर-दिसम्बर-2009 का अंक मेरे समक्ष है। इस अंक में डॉ. लोकेश चन्द्र ने तैंतीस कोटि देवता का प्रामाणिक स्वरूप स्पष्ट कर जनसामान्य के भ्रामक विश्वास का निवारण कर दिया है। श्री सुरेश शर्मा ने वीर सावरकर तथा महात्मा गाँधी के विचारों की तुलना की है और ऐतिहासिक दृष्टि से वीर सावरकर के अवदान पर विचार किया है। मेरी दृष्टि में सावरकर जी का चिंतन रा. स्व. संघ द्वारा आगे बढ़ा है। परन्तु अभी तक सफलता नहीं मिल सकी है। महात्मा गाँधी का हिंद स्वराज और हिंदू-मुस्लिम ऐक्यये दोनों क्रमशः प. नेहरु और म.अ. जिन्ना के कारण विफल हो गये हैं।

प्रो. रमेशचन्द्र शाह ने स्वाध्याय आन्दोलन की एक विशिष्ट संगोष्ठी में उठे प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया है। मौ. वहीहदीन खान तथा स्व. निर्मल वर्मा के कथन महत्वपूर्ण हैं। डॉ. महीप सिंह ने अपने इस लेख में गुरुनानक देव पर पहले के समान ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डाला है। डॉ. सिंहपुनः सम्यक् पथ पर आ रहे हैं।

प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज' ने डॉ. लोहिया की साधना एवं चिंतना पर विस्तार से चर्चा करते हुए नये युग की नयी दिशा की ओर संकेतित कर दिया है। अनेक अध्येताओं ने गाँधीजी, लोहिया जी तथा दीनदयाल उपाध्याय जी के आर्थिक दर्शन पर तुलनात्मक विमर्श किया है। यह क्रम बढ़ना चाहिए जिससे वर्तमान का कुहासा दूर हो सके।

श्री राजीव रंजन उपाध्याय ने प्राचीन भारतीय विज्ञान की उपलब्धियों को सप्रणाम रखने का प्रयास कर नयी पीढ़ी को आलोकित किया है।

मैंने 'कश्मीर की त्रासदी और हिन्दी साहित्य' में कश्मीर से संबद्ध रचनाओं की चर्चा की है। इसमें दो-तीन बिन्दु छूट गये हैं। यह मेरी त्रुटि है।

मुझे स्मरण है कि 2004 ई. के आरंभ में ही अ. भा. साहित्य परिषद्, राजस्थान जयपुर में चन्द्रकान्ता लिखित 'कथा सतीसर', पदमा सचदेव की रचना 'जम्मू भी.. ...', क्षमा कौल प्रणीत 'दर्दपुर' तथा मेरे उपन्यास 'कश्मीर की बेटी' पर संगोष्ठी को आयोजित किया था। इन उपनासों में नारी की स्थिति पर गंभीर विचार विमर्श हुआ था।

सन् 2006 ई. के नवम्बर में मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'साक्षात्कार' के अंक को कश्मीर विस्थापन के दर्द की रचनाओं के लिए समर्पित किया गया था। कश्मीर मूल के कथाकारों, कवियों तथा लेखकों ने कश्मीर की त्रासदी पर अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी पीड़ाको अभिव्यक्ति कर साहित्य जगत् की संवेदना को जगाया है। 'साक्षात्कार' का वह अंक चर्चा का विषय बन गया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता ने अधिकांश में पूर्वाग्रह के कारण कश्मीर की पीड़ा की अनुभूति नहीं की है।

मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी ने तो क्षमा कौल के उपन्यास को प्रान्त के उपकेन्द्रों में गोष्ठियों का विषय बनाया। सारे मध्य प्रदेश में 'दर्दपुर' पर गोष्ठियाँ आयोजित हुईं। बाद में 'साक्षात्कार' ने उन गोष्ठियों के विचार बिन्दुओं को प्रकाशित भी किया है। कहने का तात्पर्य है कि मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. देवेन्द्र 'दीपक' की गहरी अनुभूति कश्मीर को लेकर प्रकट हुई। यह अतीव हर्ष का विषय है।

यह अपेक्षित है कि सारे देश में कश्मीर की त्रासदी की चर्चा से पूरा भारत संवेदित हो। उसका दर्द सारे भारत का दर्द हो। यह दर्द नये परिवर्तन की आकांक्षा जगाये।

शत्रुघ्न प्रसाद, राजेन्द्र नगर, पथ-13 द्वए, पटना-800 016।

... आपकी पत्रिका राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण स्थान रखती है।...

डॉ. (श्रीमती) अमिता शर्मा, एसोसियट प्रोफेसर (संगीत विभाग) बैकुंठी देवी कन्या (पी.जी.) महाविद्यालय, डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, बालूगंज, आगरा-282003।

श्री पंकज का लेख विचारोत्तक है और कई प्रकार की जानकारियां देता है। श्री ए.सी. सिन्हा और श्री सुरेश शर्मा के लेख भी स्तरीय और ज्ञानवर्धक हैं। डॉ. महीप सिंह का लेख एकपक्षीय है। वे सगुण भक्त कवियों की महान् देन को या तो समझ नहीं सके हैं या समझना नहीं चाहते हैं। पाठकीय प्रतिक्रिया में प्रकाशित पत्र विचारणीय हैं। चिन्तन योग्य सामग्री प्रदान करने के लिये बधाई। **श्याम लाल दीक्षित, लक्ष्मण तलैया, शब्दप्रताप आश्रम, लश्कर, ग्वालियर।**

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें

Thus Spoke Bhartrihari Selection from Sanskrit Classic Verses of Bhartrihari : नीति. शृंगार. वैराग्य, Translated by Dr. Ramesh Chandra Shah; Published by Rajpal & Sons, Kashmere Gate, Delhi-110 006; 1st Edition: 2010; Pages: 100; Price: 150/-

बोनसाई, कवि : गोविन्द पाल; प्रकाशक : देशभारती प्रकाशन डी-581, गली नं. 3, निकट वजीराबाद रोड, अशोक नगर, शाहदरा, दिल्ली-110093; प्रथम संस्करण : 2009; पृष्ठ : 112; मूल्य : 150 रुपये।

मुक्तिबोध : एक और चेहरा, संपादक : अंजना वर्मा; प्रकाशक : किताब पब्लिकेशन, हाजीपुर रोड, मुजफ्फरपुर-842002; प्रथम संस्करण : 2009; पृष्ठ : 200; मूल्य : 250 रुपये।

क्या ऐसे भी लोग होते हैं? (लघुकथा-संग्रह), मधु हातेकर; प्रकाशक : अहल्या प्रकाशन, 5-4-485, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद-500 001; प्रथम संस्करण : नवम्बर-2009; पृष्ठ : 70; मूल्य : 50 रुपये।

पत्रिकाएँ

अंगिकालोक, मातृभाषा से मातृभूमि के वंदना; वर्ष : 5 अंक : 2-3, जनवरी-जून, 2010; संपादक : डॉ. सकलदेव शर्मा; प्रकाशक : सर्जना प्रकाशन, लहेरियासराय, दरभंगा-846 001(बिहार); पृष्ठ: 76; मूल्य: 25 रुपये।

संवदिया, सर्जनात्मक साहित्यिक त्रैमासिकी; वर्ष : 6 अंक : 1, अक्टूबर-दिसंबर 2019; संपादक : अनीता पंडित; प्रकाशक : संवदिया प्रकाशन, जयप्रकाश नगर, वार्ड नं. 7, अररिया-854 311 (बिहार); पृष्ठ : 88; मूल्य: 30 रुपये ।

सुमन सागर त्रैमासिक पत्रिका; संपादक : कमल रंजन हिमशैल, विनीता भवन, काजीचक, संवेरा सिनेमा चौक, बाढ़-803213, पटना; पृष्ठ: 24; मूल्य: 6/- रुपये ।

रचना समय; सम्पादक: बृजनारायण शर्मा, 197, सेक्टर-बी, सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड, भोपाल-462 042 (म.प्र.); पृष्ठ : 52; मूल्य : 100 रुपये ।

बालाघाट साहित्य सरोवर साहित्य को समर्पित मासिक; खंड-एक, वर्ष-एक अंक; प्रथम जनवरी 2010; प्रधान संपादक : राकेश सिंहासने, संयोजक, अ. भा. साहित्य परिषद्, वार्ड न. 22 सोगापथ, पंवार छात्रावास के समीप, बालाघाट-481001(म.प्र.); पृष्ठ : 4 ।

आस्था भारती, दिल्ली

अध्यक्ष : डॉ. जयन्त माधव

अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक, पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम

सचिव : डॉ. ब्रज बिहारी कुमार

कोषाध्यक्ष : श्री जे.एन. राय

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त) पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली

सदस्य, शासी परिषद : 1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**

पूर्व कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग

2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**

पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय

3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**

पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय

4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**

पूर्व कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय

5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**

पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र, मद्रास विश्वविद्यालय

6. **श्री प्रकाश सिंह**

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त) पूर्व महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल, पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम

7. **श्री राजेश भार्गव**

इंजीनियर, व्यवसाय, दिल्ली

8. **डॉ. सुरेश शर्मा,**

पूर्व निदेशक, विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र, दिल्ली

9. **डॉ. शंकर शरण**

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

10. **श्री विमल प्रमाणिक**

निदेशक, भारत-बंगलादेश संबंध अध्ययन केन्द्र, कोलकाता ।

Dialogue
Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi

Special Numbers:

- Illegal Migration from Bangladesh - Vol. 3:3
Central Asia - Vol. 3:4
Fiscal Mis-management in North East India - Vol. 4:1
Maoist Insurgency in Nepal and India - Vol. 4:2
India: Security Dimensions - Vol. 4:3
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip - Vol. 4:4
South-East Asia - Vol. 5:1
Secularism: India in Labyrinth - Vol. 5:2
India's Neighbourhood - Vol. 5:3
Governance in the North-East - Vol. 5:4
Policing in India - Vol. 6:1
India and Central Asia - Vol. 6:2
Population Issues - Vol. 6:3
Naxalism - Vol. 6:4
Indo-Pakistan Relations & Kashmir - Vol. 7:1
Media in India - Vol. 7:2
India's North East - Vol. 7:1
India: Political Culture, Governance & Growth - Vol. 7:4
Understanding India - Vol. 8:1
India's Internal Security - Vol. 8:2
India's Interface with East Asia - Vol. 8:3
Education in India - Vol. 8:4
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy - Vol. 9:1
Caste, Community and Social Justice - Vol. 9:2
India's Encounter with the West - Vol. 9:3
India: Security Scene - Vol. 9:4
Kashmir - Vol. 10:1
Bangladesh - Vol. 10:2
India's North-East - Vol. 10:3
Himalayan Region - Vol. 10:4
India's Neighbourhood - Vol. 11:1
Terrorism/Insurgencies in India : Perception and Reality" – Vol. 11:2
India: Women Related Issues – Vol. 11:3

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848